दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण
2477

आत्म-मार्ग

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातों में और उसके झगड़े में जगत् रुका रहता है। आत्ममार्ग तो अंतर अनुभव में है। अनादि की विपरीतता से जीव ने जो माना है, वह सच्चा नहीं है।

[समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

76

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- मोक्षतत्त्व (3)
2- लोगों को खबर नहीं है
3- आत्मार्थी का पहला कर्तव्य (4)
नवतत्त्व का ज्ञान सम्यग्दर्शन का व्यवहार है
4- अवतार बंद होने का उपाय
5- ज्ञानी की सीख
6- मोक्षतत्त्व का साधन
7- सिद्धत्व के लक्ष से साधकत्व का प्रारंभ
8- सच्चे और झूठे का विवेक
9- पुण्य, पाप और धर्म संबंध में—

निम्न साहित्य मँगाइए

अनुभवप्रकाश	0-5-0
पंचमेरु पूजन संग्रह	0-12-0
प्रवचनसार	5-0-0
अष्टप्राभृत	3-0-0
चिद्विलास	1-2-0
जैन बालपोथी	0-4-0

[डाक व्यय अलग]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

आत्मधर्म

श्रावण 2477 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक चौथा

मोक्षतत्त्व (3)

श्री प्रवचनसार गाथा 272 पर वीर सं. 2476के ज्येष्ठ शुक्ला 5 (श्रुतपंचमी) के दिन लाठी के जिनमंदिरजी की प्रतिष्ठा के वार्षिक महोत्सव प्रसंग पर लाठी में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन

271वीं गाथा में संसारतत्त्व का वर्णन किया, अब इस 272वीं गाथा में उस संसारतत्त्व के सन्मुख मोक्षतत्त्व को प्रगट करते हैं। मोक्षतत्त्व आत्मा की निर्विकारी शुद्धदशा है। संसार आत्मा की भूलयुक्त विकारदशा है और मोक्ष आत्मा की पवित्र दशा है, आत्मा तो उन दोनों अवस्थाओं में ध्रुवरूप नित्य रहनेवाला है। संसार और मोक्ष – यह दोनों आत्मा की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। संसार का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं हो जाता और मोक्षदशा प्रगट होने पर आत्मा नवीन प्रगट नहीं होता। संसारदशा का व्यय और मोक्षदशा का उत्पाद होता है, आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से एकरूप ध्रुव है। जो आत्मा संसारदशा में था, वही मोक्षदशा में रहता है।

संसारतत्त्व का वर्णन करते हुए 271वीं गाथा में तत्त्व की विपरीत श्रद्धावाले द्रव्यलिंगी श्रमण को मुख्य संसारतत्त्व कहा था। यहाँ मोक्षतत्त्व के वर्णन में भावलिंगी शुद्धोपयोगी श्रमण मोक्षतत्त्व है – ऐसा कहते हैं।

अयथाचरणहीन सूत्र अर्थ सुनिश्चयी उपशांत जे।
ते पूर्ण साधु अफल आ संसारमां चिर नहि रहे।।272।।

इस प्रवचनसार शास्त्र की अन्तिम पाँच गाथाओं को श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पाँच रत्नों की उपमा दी है, उन पाँच रत्नों में यह दूसरा रत्न है। द्रव्यलिंगी संसारतत्त्व अनंत संसार में परिभ्रमण करेगा – ऐसा कहा था और भावलिंगी श्रमण अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा, इससे वह मोक्षतत्त्व है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

मोक्ष के साधक श्रमण कैसे होते हैं ? त्रिलोक के मुकुट के समान, विवेकरूपी दीपक के प्रकाश वाले होते हैं। संसारतत्त्ववाला जीव स्वयं अविवेकी था, यहाँ मोक्षतत्त्व में प्रथम ही विवेक अर्थात् भेदज्ञान की बात की है। केवलज्ञान सूर्य है और मति-श्रुतज्ञान दीपक हैं। श्रमण को अभी केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, किन्तु यथार्थ मतिश्रुतज्ञान प्रगट हुए हैं, वह त्रिलोक के चूड़ामणि समान दीपक हैं। सम्यग्ज्ञान का विवेक प्रगट हुए बिना मुनिदशा नहीं होती, इससे प्रथम विवेक की बात ली है। लोग भी कहते हैं कि –

धर्म खेत में न उगे, धर्म न हाट बिकाय।
प्रगट धर्म विवेक से, जो करिये तो थाय।।

धर्म कहीं बाह्य से नहीं मिलता, किन्तु अंतरंग विवेक से होता है। विवेक का अर्थ क्या है ? स्व-पर पदार्थों का स्वभाव जैसा है, वैसा ही ज्ञान में जानना, वह विवेक है। प्रथम तो श्रमण को ऐसे विवेक के कारण यथास्थित पदार्थ निश्चय होता है अर्थात् पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही उसकी श्रद्धा होती है। घड़ा मिट्टी से होता है – ऐसा मानना, वह यथास्थित पदार्थश्रद्धा है, और कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा मानना यथास्थित पदार्थश्रद्धा नहीं किन्तु विपरीत श्रद्धा है। जब पदार्थ की जिस अवस्था का स्वकाल होता है, तब वह अवस्था स्वतंत्ररूप से उसके अपने से ही होती है, दूसरी वस्तु से उसमें कुछ भी नहीं होता – ऐसा समझना, वह पदार्थ की यथार्थ श्रद्धा है। ऐसी यथार्थ श्रद्धा प्रगट करने से ही पदार्थों संबंधी उत्सुकता नष्ट होती है। यदि पदार्थ का यथार्थ निर्णय न करे तो 'पदार्थ ऐसा होगा या वैसा ?' – ऐसी शंका के झूले पर झूलता रहेगा, इससे उसकी आकुलता दूर नहीं होगी और वह कभी स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकेगा। मोक्ष के साधक मुनियों ने विवेकरूपी दीपक के प्रकाश से पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है और इस निश्चय के द्वारा उत्सुकता को दूर किया है।

शुभराग बंध का कारण है, वह मोक्ष का साधन नहीं है। पुण्य पुण्यतत्त्व है, उससे धर्म नहीं होता, इसप्रकार नवों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा द्वारा 'यह कैसा होगा ? क्या पुण्य से धर्म होता होगा!' इसप्रकार की सर्व शंकाएँ दूर हो जाती हैं। निःशंकरूप से नवतत्त्वों का निर्णय न करे, वहाँ तक उपयोग आत्मस्वरूप में एकाग्र नहीं होता। प्रथम नवतत्त्वों का निर्णय करके आत्मा क्या है, वह निश्चित कर ले, पश्चात् आत्मा में उपयोग को लगाए तो वहाँ एकाग्रता हो। पदार्थ निश्चय करके जिसका उपयोग अपने स्वरूप में स्थिर हो गया है – ऐसे साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व कहते हैं।

मोक्षतत्त्व अर्थात् क्या ? उसकी यह बात चल रही है। स्वरूपमंथर अर्थात् जो आत्मस्वरूप में जम गये हैं – ऐसे भावलिंगी मुनि को वर्तमान में केवलज्ञान नहीं है, किन्तु भेदज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ है, उस दीपक के प्रकाश द्वारा पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करके आत्मा में स्थित हुए हैं, प्रशांत आत्मा हुए हैं, उन्हें भविष्य में अल्पकाल में मुक्ति होना है, इससे उन्हीं को यहाँ मोक्षतत्त्व कह दिया है। अभी साक्षात् मोक्षदशा प्रगट नहीं हुई है, उससे पूर्व ही, मोक्ष के कारण का सेवन कर रहे हैं, इसलिए शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है।

मैं ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा हूँ, मेरा आनंद कहीं अन्यत्र नहीं है – ऐसा जिसने यथार्थ निर्णय किया है तथा पदार्थों के निर्णय संबंधी व्यामोह को दूर करके उत्सुकता दूर की है और जो स्वरूप में लीन प्रशान्तमूर्ति है, वही सच्चा श्रमण है, श्रमण की ऐसी अंतरंगदशा हो जाती है और वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। जैसे – मक्खी मिश्री का स्वाद लेने में ऐसी लीन हो जाती है कि वहाँ से हटना नहीं चाहती, मिश्री की भांति आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करने में मुनि का आत्मा ऐसा लीन हुआ है – ऐसा जम गया है कि वहाँ से बाहर निकलने का वह आलसी है, स्वभाव के अपूर्व आनंद में से किंचित् बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता। वे श्रमण स्वरूप के आनंद में तृप्त-तृप्त होने से मानों स्वरूप के बाहर निकलने के आलसी-सुस्त हों, इसप्रकार स्वरूप प्रशांति में मग्न होकर रह रहे हैं। जिसप्रकार किसी भिखारी को बहुत दिनों के बाद मिश्री की डली मिल गई हो और ममता से उसे चूसता रहे, उसीप्रकार यहाँ मुनिराज को पूर्व अनंतकाल में नहीं प्राप्त हुआ, आत्मा के आनंद-अमृतरस का ऐसा अपूर्व अनुभव प्रगट हुआ है कि उसी में वे लीन हो गये हैं, उसमें से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता, स्वभाव के अनुभव में से बाहर निकलने का उन्हें आलस होता है। देखो तो, आचार्यदेव की शैली। जगत के जीव तो धर्म करने के आलसी होते हैं, लेकिन वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनि तो धर्म से बाहर निकलने के आलसी हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जिसप्रकार घोर निद्रा में पड़ा हुआ बुलाने से नहीं जागता, उसीप्रकार यहाँ आत्मा की जागृति से स्वरूप की प्रशांति में लीन हुए मुनि चाहे जैसे प्रतिकूलता आये, तथापि स्वरूप के बाहर नहीं निकलते।

उन मुनि का आत्मा स्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरता होने से अयथाचाररहित वर्तता

है। मुनि का आत्मा एक आत्मस्वरूप में ही सन्मुखरूप से वर्तता है, अन्य पदार्थों के सन्मुख नहीं वर्तता। यहाँ तो मोक्षतत्त्व की बात लेना है। स्वरूप के बाहर लक्ष जाकर शुभवृत्ति उठे तो वह मोक्ष से रोकनेवाली है, इससे वह अथाचार प्रवृत्ति है। शुद्धोपयोग प्रगट करके जो एक आत्मस्वरूप में वर्त रहा है, वह अयथाचाररहित है और वह नित्यज्ञानी है – ऐसे सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना चाहिए क्योंकि वह शुद्धोपयोगी श्रमण पुनः प्राण धारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होता और अन्य विकारभावरूप परिणमन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित परिणतिवाला रहता है।

जो स्वरूप की प्रतीति करके उसमें जम गये, ऐसे जम गये कि बाहर निकलने के आलसी हो गये हैं, विकल्परहित प्रशांत-उपशांतरूप हो गये हैं और निजस्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरण करने से अयथाचाररहित वर्तते हैं, स्वरूप से बाहर निकलकर कोई विकल्प ही नहीं उठता तथा जो नित्य ज्ञानी हैं – ऐसी जिनकी दशा हुई है, उन वास्तव में सम्पूर्ण श्रामणवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना। शुभराग का विकल्प उठे, वह भी यथाचार नहीं है। उपवास करना माने और दूसरे दिन सबेरे की खिचड़ी के घंटे गिन रहा हो, वह यथाचार नहीं कहलाता, वह तो शुभभाव नहीं है-अशुभभाव है।

मुनि तो आत्मा के आनंद के रस में तरबतर होकर स्वरूपमंथर हो गये हैं, आहार लिया या नहीं लिया, उसका विकल्प भी नहीं उठता। जैसे गरम घी से भरे हुए तपेले में गरम-गरम पूरन पूरिया डुबोये और वे तरबतर होकर उनमें से घी टपक रहा हो, उसीप्रकार मुनि शुद्धोपयोग द्वारा चैतन्य समुद्र में ऐसे लीन हुए हैं कि अन्तर में आत्मा का आनंद रस टपक रहा है, आत्मा के आनंद में तरबतर हो गये हैं। देखो, यह मोक्ष की तत्परतावाले मुनि की दशा।

अहो, आत्मा में अपूर्व आनंद झरे, ऐसी बात है। जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतु के भयंकर ताप में चारों ओर शीतल जल के फव्वारों के बीच बैठकर शांति मानता है, उसीप्रकार यहाँ मुनि को आत्मा के ध्यान में एकाग्र होने से अनंत गुणों में से अमृत के फव्वारे छूटते हैं, आनंद के स्रोत बहते हैं, उनमें विचरता हुआ आत्मा तृप्त-तृप्त हो गया है। संसार के ताप से छूटकर शांति लेने का यह उपाय है।

एक बार एक राजा के मुंह में अमी झरना (थूक आना) बन्द हो गया, इससे मुंह में सूखापन बना रहता था, अमी झरने के बहुत प्रयत्न किये किन्तु सब निष्फल हो गये। अन्त में एक जानकार

ग्रामीण आदमी ने हरी इमली की मालाएँ बनाकर चारों टांग दीं और बीच में राजा को बिठाया, इमली को देखते ही राजा के मुँह में अमी झरने लगा (पानी भर आया), उसीप्रकार आत्मा अनादि से अज्ञान के कारण बाह्य क्रियाकाण्ड में और विकार में भटकता था, वहाँ कभी उसके अनुभव में आत्मा के आनंद का अमृत नहीं झरता था। अनादि से विपरीत उपाय किये और अन्त में उसे ज्ञानी का समागम हुआ, ज्ञानी ने उससे कहा – 'भाई ! आत्मा के आनंद का उपाय सहज है, बाह्योन्मुखता को छोड़कर तू अपने स्वभावोन्मुख हो।' जहाँ यथार्थ भान करके अंतरस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ आत्मानुभव का अमृत झरने लगा। जो मुनि ऐसे आत्मानुभव के अमृत में लीन हुए, वे मुनि ही वास्तव में मोक्षतत्त्व हैं।

यहाँ स्वरूप की रमणता में वर्तते हुए स्वरूप में स्थिर हुए हैं – ऐसे साक्षात् श्रमण को ही मोक्षतत्त्व कह दिया है। वर्तमान में साधक है, तथापि मोक्षतत्त्व कह दिया है। मोक्ष का साक्षात् कारण प्रगट हुआ कि मोक्षतत्त्व हुआ कि मोक्षतत्त्व ही कह दिया है। ऐसी दशा भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य की थी और भगवान श्री पुष्पदंत तथा भूतबलि आदि संत-मुनियों की भी ऐसी दशा था। आज यहाँ के (लाठी के) जिनमंदिर की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव है और श्रुतपंचमी का दिवस है, महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि के साथ संबंध रखनेवाले महान षट्खण्डागम की पूजा का आज का दिन है। श्री भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यदेवों ने उसकी रचना की थी। उनके उपरोक्तानुसार दशा विद्यमान थी। स्वरूप के आनंद में लीन होने से वह दशा प्रगट हुई है।

संसारतत्त्व के वर्णन में द्रव्यलिंगी मुनि को नित्य अज्ञानी और श्रमणाभास कहा था, यहाँ मोक्ष की तैयारीवाले भावलिंगी साधु को नित्य ज्ञानी एवं साक्षात् श्रमण कहा है। जो शुद्धोपयोग में स्थिर हुए वे साक्षात् श्रमण हैं। जहाँ ऐसी दशा प्रगट हुई, वहाँ साधक-साध्य के बीच के भेद को तोड़कर कहते हैं कि मोक्षतत्त्व ही घर आ गया। आत्मा स्वयं मोक्षतत्त्व हो गया। साक्षात् मोक्षदशा तो भविष्य में होना है, किन्तु मोक्ष के कारणरूप दशा प्रगट हो गई, वहाँ उसे वर्तमान में ही मोक्षतत्त्व कहा है। क्योंकि उस आत्मा ने पूर्व के समस्त कर्मों के फल को लीला से नष्ट किया है, कष्ट से नहीं किन्तु लीला से नष्ट किया है। जिसमें कष्ट मालूम हो, वह तो बुरा ध्यान है, उससे धर्म नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का निश्चय करके उसमें लीन होनेवाले मुनिवरों ने सहजमात्र में पूर्व कर्म के फल को नष्ट किया है, आगामी कर्मफल को वे उत्पन्न नहीं करते, इससे पुनः प्राणधारणरूप

दीनता को प्राप्त नहीं होते और विकारीभावोंरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित वृत्तिवाले रहते हैं, इससे वे मुनिजन ही मोक्षतत्त्व हैं।

शरीर को धारण करना, वह दीनता है और चैतन्य की निर्मल आनंददशा प्रगट करके उसमें लीन रहना, वह बादशाही है। आत्मा सदैव नवीन-नवीन विकारभावरूप से परिवर्तित होता रहता था और उसके फल में नवीन-नवीन शरीरों को धारण करनेरूप दीनता को प्राप्त होता था, वह संसारतत्त्व था और आत्मा का भान प्रगट करके उसके आनंद में ही स्थिरता से आत्मा एक भावरूप से स्वरूप में ही स्थिर रहता है और पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होता - वह जीव ही मोक्षतत्त्व है, मुनि का आत्मा ही अभेदरूप से मोक्षतत्त्व है।

इसप्रकार 271वीं गाथा में संसारतत्त्व का और 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया। अब, 273वीं गाथा में मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का वर्णन करेंगे।।272।।

लोगों को खबर नहीं है!

कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, मात्र वैसे भाव कर सकता है।.... अनेक लोग दुनिया से कहते हैं कि हमारा स्वार्थ-त्याग तो देखो! हम दुनिया के लिये मर रहे हैं! अपना बिगाड़कर भी दुनिया को सुधार रहे हैं।—ऐसा कहनेवाले ने सामनेवाले जीवों को पराधीन और निर्माल्य सिद्ध किया; इस बात की लोगों को खबर नहीं है।

—समयसार प्रवचन से

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (4)

नवतत्त्व का ज्ञान सम्यग्दर्शन का व्यवहार है

(वीर सं. 2479 श्रावण शुक्ला 30 मंगलवार)

जिसे आत्मा की शांति और हितरूप कर्त्तव्य करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? वह बात चल रही है। प्रथम जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों को यथावत् मानना चाहिए, नवतत्त्वों को माने बिना उन नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती, और पर्यायदृष्टि में अनेकता है, उसे जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की दृष्टि नहीं होती। नवतत्त्वों के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान नहीं होते, किन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नवतत्त्वों का रागरहित ज्ञान आ जाता है। प्रथम राग की मंदता होकर, ज्ञान के क्षयोपशम में नवतत्त्वों को यथावत् जानना चाहिए, उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव नहीं होता।

नवतत्त्वों में जीव और अजीवतत्त्व तो त्रिकाल हैं, वे मूल द्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप क्षणिक अवस्था में होते हैं, वह विकारी अंश है। पुण्य-पाप-आस्रव और बंध - यह चारों तत्त्व अवस्था का स्वतंत्र विकार है, वह त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं होता और न अजीव के आश्रय से भी होता है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे और यदि अजीव के कारण विकार हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे - इसप्रकार नवतत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होंगे। इसलिए नवतत्त्वों को यथावत् पृथक्-पृथक् जानना चाहिए।

भगवान आत्मा अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड, ध्रुव है, शरीरादि अजीव से पृथक् हैं - ऐसा रागसहित विचार से निश्चित करे, उसे जीवतत्त्व का व्यवहारनिर्णय कहा जाता है। इस जगत में एक जीवतत्त्व नहीं है, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में अजीव का अभाव है, किन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्य तत्त्व का लक्ष चूककर

अजीव के लक्ष से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व का अस्तित्व स्वतंत्र है। यदि अजीव कर्म के कारण विकार होता है - ऐसा माने तो उसने अजीवको और आस्रवादि तत्त्वों को एक माना, इससे नवत्त्व स्वतंत्र नहीं रहे। इसलिए जो ऐसा मानता है कि कर्म के कारण विकार होता है, उसे नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

नवतत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव - यह तीन कारण हैं और बंध उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु उस बंध तत्त्व में आ जाते हैं। जो पुण्य से धर्म मनाये, आत्मा जड़ का कर सकता है - ऐसा मनाये, वह कुगुरु है, वैसे कुगुरुओं को पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्वरूप से स्वीकार करके उनका आदर छोड़ दे, उसी ने नवतत्त्वों को माना कहा जाता है। कुगुरु पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व के कर्ता हैं, इससे उन्हें पुण्य-पाप-आस्रव-बंधतत्त्व में जानना चाहिए। विकार में धर्म माननेवाले कुगुरुओं को जो सच्चा माने, वह उनका आदर करे, उसने आस्रवादि तत्त्वों को संवर-निर्जरातत्त्व में मान लिया है, उसने नवतत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से एकाग्रता करने से ही संवर-निर्जरा होते हैं। पुण्य है, वह उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर-निर्जरा नहीं होते, तथापि पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे संवर-निर्जरा का कारण माने तो उस विपरीत मान्यता का महापाप अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न - एक छोटीसी भूल की, उसमें इतना भारी दण्ड ?

उत्तर - चैतन्य भगवान को विकार से लाभ मानना, वह छोटी सी भूल नहीं किन्तु भयंकर अपराध है। मिथ्या मान्यता द्वारा अनंतगुण के पिण्ड, चैतन्य को कुचलकर विकार से लाभ मानता है, वह महान अपराधी है, महान पापी है। जैसे किसी महान वैभवशाली राजा का इकलौता पुत्र हो और सबेरे उसे राजगद्दी होने की तैयारी हो गई हो, उससमय कोई उसका मस्तक काट डाले तो वह कैसा अपराध है ? उसीप्रकार यह चैतन्य राजा अनंतगुणों का स्वामी है, उस चैतन्य सम्राट की निर्मलानंद प्रजा-पर्याय प्रगट होने के समय, उसको विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा-परिणति को विपरीत मान्यता से कुचल डालता है, वह चैतन्य का महान अपराध है, उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में नरक-निगोददशा होती है।

नवतत्त्वों में सातवाँ निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलंबन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता दूर हो और कर्म खिर जायें, उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में

या पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर-निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है - ऐसे निर्जरातत्त्व को न जाने और पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या आहार न लेने से निर्जरा माने, उसे तो व्यवहार से-पर्यायदृष्टि से भी नवतत्त्वों की खबर नहीं है। निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है, अशुद्धता के द्वारा शुद्धता नहीं होती। तथापि जो अशुद्धता द्वारा अशुद्धता दूर करना (पुण्य से निर्जरा होना) मानते हैं, उन्होंने निर्जरा आदि तत्त्वों को नहीं जाना है। नवतत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भान सहित एकाग्रता बढ़ने से शुद्धता बढ़े और अशुद्धता दूर हो जाये तथा कर्म खिर जायें - यह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उसे गुरु कहते हैं। संवर और निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं, वह धर्म है।

संवर-निर्जरा मोक्ष का साधन है, ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्होंने पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की है, वे देव हैं और संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिनके प्रवर्तमान है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव स्वयं धर्म हैं। इसप्रकार नवतत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहिचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। 'तप से निर्जरा होती है' - ऐसा शास्त्र में है, वहाँ लोग आहार का त्याग किया, वह तप और उससे निर्जरा हुई - ऐसा बाह्य दृष्टि से मान लेते हैं, उन्हें यह भी भान नहीं है कि तप क्या है और निर्जरा क्या है। तप से निर्जरा होती है - यह बात सत्य है, लेकिन उस तप का स्वरूप क्या है ? बाह्य तप से निर्जरा धर्म नहीं होता, किन्तु अंतर में चैतन्यस्वरूप का भान करके उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उससे निर्जरा होती है। सम्यक्रूप से चैतन्य का प्रतपन, सो तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे सच्चा तप नहीं होता। जो पुण्य से या शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानते हैं, उनहें तो, नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले अभव्य जीव को नवतत्त्व की जैसी श्रद्धा अनंत बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे धर्म का कारण माने, उसने पुण्यतत्त्व को या धर्मतत्त्व को नहीं जाना और न उसे धर्म होता है।

आत्मा में शुद्धता की वृद्धि हुए बिना, कर्म अपने आप पककर खिर जायें, वह सविपाक निर्जरा है, वह निर्जरा तो सभी जीवों के होती है, उसमें धर्म नहीं है, और आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि शुभभाव से कुछ अकामनिर्जरा हो, उसकी गिनती भी धर्म में नहीं होती। लेकिन आत्मा में नवतत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से शुद्धता में वृद्धि हो और अशुद्धता तथा कर्म दूर हों, वह निर्जरा, मोक्ष का कारण है।

आठवाँ बंधतत्त्व है। विकारभाव में जीव का बंध जाना-अटक जाना, वह बंधतत्त्व है। किसी पर के कारण जीव को बंधन नहीं होता, किन्तु अपनी पर्याय विकारभाव में रुक गई है, वही बंधन है। पुण्य-पाप के भावों से आत्मा छूटता नहीं है, किन्तु बंधता है, इससे वे पुण्य-पाप बंधतत्त्व के कारण हैं। उसके बदले पुण्य को धर्म का साधन माने अथवा उसे अच्छा माने तो वह बंध आदि तत्त्वों के स्वरूप को नहीं समझा है। दया, पूजादि शुभभाव अथवा हिंसा, चोरी आदि अशुभभाव, वह विकार हैं, उसके द्वारा आत्मा छूटता नहीं है, किन्तु बंधता है। पुण्य और पाप - यह दोनों भाव मलिन भाव हैं, बंधनभाव हैं। इस समय पुण्य किया जाये तो भविष्य में योग्य सामग्री प्राप्त होगी और योग्य सामग्री प्राप्त हो तो धर्म करने की अनुकूलता हो - ऐसा जिसने माना, उसने पुण्य को वास्तव में बंधतत्त्व नहीं जाना। वास्तव में तो पुण्यभाव के कारण बाह्य सामग्री प्राप्त नहीं होती, क्योंकि पुण्य अलग वस्तु है और अजीव सामग्री अलग स्वतंत्र वस्तु है। पुण्य और बाह्य सामग्री का मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इस निमित्त-नैमित्तिक संबंध का जो अस्वीकार करता है, उसे भी पुण्यतत्त्व की व्यवहार से सच्ची श्रद्धा नहीं है। बाह्य अनुकूल सामग्री द्वारा जीव को धर्म करने में ठीक रहता है - इस मान्यता से भी जीव और अजीव की एकता की बुद्धि है। प्रथम भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों को जाने बिना अभेद आत्मा की प्रतीति नहीं होती और उस प्रतीति के बिना धर्म नहीं होता।

त्रिकाली जीवतत्त्व के कारण बंध नहीं है और अजीवतत्त्व के कारण भी बंध नहीं है। बंधतत्त्व त्रिकाली जीवतत्त्व से भिन्न है और अजीव से भी भिन्न है। बंध परलक्ष से होनेवाली क्षणिक विकारी वृत्ति है, वह स्वतंत्र है। बंधतत्त्व त्रिकाली नहीं है, किन्तु क्षणिक आत्मस्वभाव से च्युत होकर जो मिथ्यात्वभाव हों, उन्हें और आत्मा का भान होने के पश्चात् भी जो रागादिभाव हों, उन्हें बंधतत्त्व जाने और कुतत्त्वों का कथन करनेवाले कुदेव-कुगुरुओं को भी बंधतत्त्व में जाने, तब बंधतत्त्व को जाना कहलाता है। श्री अरिहंत भगवान द्वारा कथित और यथार्थ वस्तुरूप इन नव तत्त्वों को भी जो न समझे और कुतत्त्वों को माने, उसने वास्तव में अरिहंत भगवान को नहीं पहिचाना और न वह अरिहंत का भक्त है।

हे भाई ! यदि तू ऐसा कहता हो कि मैं अरिहंतदेव का भक्त हूँ, मैं अरिहंत प्रभु का दास हूँ, तो श्री अरिहंतदेव के कहे हुए नवतत्त्वों को बराबर जान और उससे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव-कुगुरु का सेवन छोड़ दे। भगवान ने नवतत्त्व जिसप्रकार कहे हैं, उसप्रकार तू उन्हें व्यवहार से भी न जाने तो तूने अरिहंत भगवान को नहीं माना है, तू व्यवहार से भी अरिहंत भगवान का भक्त नहीं है।

व्यवहार से भी अरिहंत भगवान का भक्त वह कहलाता है कि जो उनके कहे हुए नव तत्त्वों को जाने और उनसे विरुद्ध कहनेवालों को बिलकुल माने ही नहीं। नवतत्त्वों को जानने में भी अनेकता का भेद का लक्ष है, जबतक उस भेद के लक्ष से रुके, तबतक व्यवहारश्रद्धा है, किन्तु परमार्थश्रद्धा नहीं है, जब उस अनेकता का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से अनुभव करे, तब परमार्थ सम्यक्दर्शन होता है और तभी जीव अरिहंतदेव का सच्चा भक्त अर्थात् जिनेश्वर का लघुनंदन कहलाता है।

जीव स्वयं बंधनभाव में रुके, उसमें उसे अजीव का निमित्तपना है। अकेले चैतन्य में, अजीव के निमित्त के बिना भी यदि बंधन हो तो वह स्वभाव हो जाये। अकेले चैतन्य में स्वभाव से बंधन नहीं होता, किन्तु चैतन्य की उपेक्षा करके अजीव के लक्ष में रुके, तब बंधन भाव होता है। अवस्था में क्षणिक बंधनतत्त्व है – ऐसा जानना चाहिए।

अहो ! अनेक जीव बाहर के झंझटों में ही समय बिता देते हैं, किन्तु अन्तर में तत्त्व को समझने की दरकार नहीं करते और न उसे समझने के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं! उनको मनुष्य भव प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ ? अरे भगवान ! अनंतकाल में सत् को सुनने और समझने का अवसर आया है, इसलिए आत्मा की चिंता करके समझ ले। ऐसा विचार करता रहेगा तो सत् समझने का सुअवसर चला जायेगा और फिर अनंतकाल में भी ऐसा अवसर प्राप्त होना महंगा है। लक्ष्मी टीका करने आये, उस समय मुँह धोने के लिए नहीं जाते; उसीप्रकार यह सत् समझने और चैतन्यलक्ष्मी को प्राप्त करने का अवसर आया है – अपूर्व कल्याण प्रगट करने का अवसर आया है, इस समय 'फिर करेंगे, फिर करेंगे' ऐसा नहीं कहा जाता। यदि इस समय दरकार करके सत् को नहीं समझेगा तो फिर कब ऐसा सुअवसर प्राप्त होगा ? इसलिए प्रथम नवतत्त्वों को जानना चाहिए।

नवतत्त्वों में से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और बंध – इन आठ तत्त्वों का वर्णन हो गया है, अब नवमां मोक्षतत्त्व है। आत्मा की अनंतज्ञान और आनंदमय पूर्ण शुद्ध दशा हो, वह मोक्षतत्त्व है। जो ऐसे मोक्षतत्त्व को पहिचान ले, वह सर्वज्ञदेव को जान लेता है। इससे वह कुदेवादि को नहीं मानता। जो कुदेवादि को मानता है, उसने मोक्षतत्त्व को नहीं जाना है। मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मल रागरहित दशा है, उस मोक्षतत्त्व को जानने से अरिहंत और सिद्ध भगवान की भी प्रतीति होती है। अरिहंत भगवान अजीव वाणी को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीवों

की योग्यतानुसार उसे छोड़ते हैं – इसप्रकार जो केवली भगवान को अजीव का ग्रहण–त्याग मानते हैं, उन अरिहंत का स्वरूप नहीं समझा है। मोक्षतत्त्व को जाने बिना नवतत्त्व ज्ञात नहीं होते और नवतत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप से अनंत केवलज्ञान–दर्शन–सुख और वीर्य से परिपूर्ण है, वे देव हैं और उन्हीं को मोक्षतत्त्व प्रगट हुआ है। ऐसी मुक्तदशा प्रगट होने के पश्चात् जीव को पुनः कभी अवतार नहीं होता। अज्ञानी जीव आत्मा के रागरहित स्वभाव को नहीं जानते और मंदकषायरूप शुभराग को ही वे धर्म मान लेते हैं। उस शुभराग के फल में स्वर्ग का भव होता है। वहाँ रहने की स्थिति बहुत लम्बी होती है, इससे अज्ञानी उसी को मोक्ष मान लेते हैं। उस स्वर्ग में से पुनः अवतार होता है, इसलिए अज्ञानीजन मोक्ष होने के पश्चात् भी अवतारों का होना मानते हैं। जीव की मुक्ति हो जाने के पश्चात् पुनः अवतार होता मानें, वे जीव मोक्षतत्त्व को नहीं जानते हैं, लेकिन बंधतत्त्व को ही मोक्षतत्त्वरूप से मानते हैं। अवतार का कारण तो बंधन है, उस बंधन का एक बार सर्वथा नाश हो जाने के पश्चात् पुनः अवतार नहीं होता। आत्मा की पूर्ण चिदानंददशा हो गई, उसका नाम मोक्षदशा है, वह मोक्षदशा होने के पश्चात् फिर से अवतार अर्थात् संसारपरिभ्रमण नहीं होता। वे मुक्त हुए परमात्मा किसी को जगत के कार्य करने के लिए नहीं भेजते और न जगत के जीवों को दुःखी देखकर या भक्तों का उद्धार करने के लिए संसार में अवतार धारण करते हैं, क्योंकि उनके रागादि भावों का अभाव है। जगत में जीवों को दुःखी देखकर भगवान अवतार धारण करते हैं – ऐसा जो मानते हैं, वे भगवान–मुक्त आत्मा को रागी और पर का कर्त्ता सिद्ध करते हैं। उन्होंने मुक्त आत्मा को नहीं जाना है। पुर्नभवरहित मोक्षतत्त्व को प्राप्त हुए श्री सिद्ध और अरिहंत परमात्मा देव हैं, जो उनको न पहिचाने, उसे सच्चा पुण्य भी नहीं होता।

अक्षर–अविनाशी चैतन्य की पूर्णानन्ददशा मोक्षतत्त्व है। वह दशा प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव को किसी की सेवा करना नहीं होता। पूर्ण ज्ञान–आनंददशा को प्राप्त हुए अरिहंत परमात्मा शरीरसहित होने पर भी वीतराग हैं, उनके पूर्ण ज्ञान–आनंद होता है, उनके शरीर में रोग नहीं होता, दवा नहीं होती, क्षुधा नहीं लगती, आहार नहीं होता और न वे किसी को वंदन करते हैं। उनका शरीर स्फटिक जैसा स्वच्छ–परमौदारिक हो जाता है तथा आकाश में 500 धनुष ऊँचे विचरते हैं। ऐसे अरिहंत परमात्मा को जो न माने, उसने तो मोक्षतत्त्व को व्यवहार से भी नहीं जाना है। श्री

केवली भगवान को अनंत ज्ञान और अनंत आनंद प्रगट हुआ, वहाँ चार घातिकर्म तो नष्ट हो गये हैं और चार अघाति कर्म शेष रह गये हैं, किन्तु वे जली हुई डोरी के समान हैं। जिसप्रकार जली हुई डोरी बांधने के काम नहीं आती, उसीप्रकार जो चार अघातिकर्म शेष रहे हैं, वे जली हुई डोरी के समान हैं, उनसे कहीं अरिहंत भगवान को क्षुधा या रोगादि नहीं होते। ऐसे अरिहंत भगवान जीवन्मुक्त हैं और शरीर रहित परमात्मा हो जायें तो सिद्ध हैं। उनकी जिन्हें पहिचान हो उन्हें व्यवहार से नवतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। नवतत्त्वों में मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करने से उसमें अरिहंत और सिद्धा की श्रद्धा भी आ जाती है।

इसप्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ऐसे नवतत्त्व अभूतार्थनय से (व्यवहारनय से) विद्यमान हैं, अर्थात् पर्यायदृष्टि से देखने पर वे नवतत्त्व विद्यमान हैं। उन नवतत्त्वों को जाने बिना चैतन्यतत्त्व की सीढ़ी तक नहीं पहुँचा जा सकता और यदि नवतत्त्वों के विकल्प में भी रुका रहे तो भी अभेद चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता। अभेद चैतन्य के अनुभव के समय नवतत्त्वों के विकल्प नहीं होते, इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं–अविद्यमान हैं। त्रिकाली तत्त्व का स्वरूप ऐसा नहीं है कि उसमें नव तत्त्वों के विकल्प बने ही रहें। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से तो एक चैतन्यमूर्ति आत्मा ही प्रकाशमान है – ऐसे चैतन्य में एकता प्राप्त हो, वह सम्यग्दर्शन है। प्रथम अभेद के लक्ष की ओर जाते हुए नवतत्त्व के विकल्प आते अवश्य हैं, लेकिन उन नवतत्त्वों के विकल्प की ओर की उन्मुखता बनी रहे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्वों के भेद का आलंबन छोड़कर अभेद चैतन्य की ओर उन्मुख होकर एकता प्रगट करना, वह नियम से सम्यग्दर्शन है।

नवतत्त्व भिन्न–भिन्न हैं, उनमें अनेकता है, उस अनेकता का लक्ष राग का कारण है, इसलिए 'नवतत्त्वों की श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है' – ऐसा नियम नहीं कहा। उन नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाला शुद्धनय है, उस शुद्धनय से एकरूप आत्मा का अनुभव करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करना' – इसका अर्थ यह है कि – नवतत्त्वों के भेद का लक्ष छोड़कर, भूतार्थनय से एकरूप आत्मा को लक्ष लेना। भूतार्थनय में नवतत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु एकरूप ज्ञायक आत्मा ही दिखाई देता है। कहीं नवतत्त्वों के सन्मुख देखने से उनमें एकत्व नहीं होता, नवतत्त्वों के सन्मुख देखने से तो राग की उत्पत्ति होती है। नवतत्त्वों के भेद का

लक्ष छोड़कर अभेद चैतन्य को शुद्धनय से जानने पर, नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट किया कहा जाता है।

भेदरूप नवतत्त्वों को यथावत् जाना, वहाँ तक तो आंगन आया, उस आंगन में आने के पश्चात् अब, वहाँ से आगे बढ़कर चैतन्यगृह में जाने और शुद्धस्वभाव की प्रतीति तथा अनुभव करने की बात है, यानी अनादिकालीन मिथ्यात्व को दूर करके अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो – उसकी यह बात है। यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

नवतत्त्व तो अभूतार्थनय से ही विद्यमान हैं, भूतार्थनय से अभेदस्वभाव में एकत्व प्रगट करने से वे नवों तत्त्व अभूतार्थ हैं। ज्ञायक चैतन्य हूँ – ऐसे अंतर में विद्यमान स्वभाव के आश्रय की दृष्टि से एक आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय से ऐसा अनुभव होने पर अनादिकालीन मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और धर्म का प्रारम्भ होता है।

नवतत्त्वों को अभूतार्थ कहा, उसमें जीवतत्त्व भी आ गया, यानी जीवतत्त्व को भी अभूतार्थ कहा – वह किस प्रकार ? शुद्ध जीवतत्त्व है, वह तो भूतार्थ है, किन्तु 'मैं जीव हूँ' – ऐसा जीव संबंधी विकल्प उठे, वह अभूतार्थ है, उस विकल्प के द्वारा जीवस्वभाव का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए 'मैं जीव हूँ' – ऐसे रागमिश्रित विकल्प को जीवत्व के रूप में गिनकर उसे यहाँ अभूतार्थ कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

नव तत्त्वों में अनेकता है, उनके विचार में अनेक समय लगते हैं, एक समय में एक ही साथ नवों तत्त्वों के विकल्प नहीं होते, उन नवतत्त्वों के लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है और अंतर में चैतन्य की एकता का अनुभव एक समय होता है। प्रथम अभेद चैतन्यस्वभाव में अंतरमुख होकर श्रद्धा से चैतन्य में एकत्व प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय तो नवतत्त्व के भेद से आत्मा का अनेकत्व प्रगट करता है, उस अनेकत्व प्रगट करनेवाले नय से चैतन्य के एकत्व की प्राप्ति नहीं होगी और चैतन्य के एकत्व की प्राप्ति के बिना रागरहित आनंद का अनुभव नहीं होता – सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। भूतार्थनय नवतत्त्व के विकल्प से रहित चैत्न्य का एकत्व प्रगट करनेवाला है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों की श्रद्धा चैतन्य का एकत्व प्रगट नहीं करती और न उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। नवतत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के व्यवहाररूप से स्थापित किया गया है, किन्तु उसके द्वारा अभेदस्वभाव में एकता नहीं होती। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही आत्मा का एकत्व प्राप्त होता है। अभेदस्वभाव के आश्रय से आत्मा में एकत्व प्राप्त करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वही प्रथम धर्म है।

मोक्षतत्त्व का साधन (4)

श्री प्रवचनसार गाथा 273 पर लाठी में वीर सं. 2476के
ज्येष्ठ शुक्ला 6-7 के दिन पूज्य श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन का संक्षिप्त सार

271वीं गाथा में संसारतत्त्व का और 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया। उस मोक्ष तत्त्व का साधन क्या है, वह अब 273वीं गाथा में कहेंगे।

जो परपदार्थ हैं, सो मैं ही हूँ और विकार जितना ही मैं हूँ - ऐसी विपरीत मान्यतावाला जीव, सो संसारतत्त्व है। आत्मा नित्य ज्ञानानंदस्वरूप है, वह शरीरादि पर से भिन्न है और रागादि उसका स्वभाव नहीं है, ऐसे आत्मा को भूलकर, उसकी अवस्था में जो यह शरीर और विकार है, सो मैं ही हूँ - उसी मिथ्या मान्यतापूर्वक राग-द्वेष के भाव सो संसार हैं। संयोग का संसार नहीं है। आत्मा के पवित्र स्वरूप से च्युत हो जाना और विकार में रहना, उस भाव को संसार कहते हैं और जिस आत्मा में विकाररहित पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हुई हो तो वह आत्मा स्वयं मोक्ष तत्त्व है। आत्मा के स्वभाव को जानकर उसमें जो लीन हुए हैं, ऐसे शुभोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है। संसारतत्त्व और मोक्षतत्त्व आत्मा से बाहर नहीं हैं, किन्तु मिथ्यात्वभाव वाला आत्मा, सो संसारतत्त्व है और पवित्र निर्दोषभाव वाला आत्मा, सो मोक्षतत्त्व है। उस मोक्षतत्त्व का साधन कहीं बाह्य में नहीं है, किन्तु आत्मा में ही है। उस मोक्षतत्त्व का वर्णन करते हैं -

सम्म विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥273॥

जाणी यथार्थ पदार्थ ने, तजी संग अंतर्बाह्यने।
आसक्त नहि विषयो विषे जे, 'शुद्ध' भाख्या तेमने ॥273॥

श्री आचार्यदेव ने प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं को पाँच रत्नों की उपमा दी है, उनमें यह तीसरा रत्न है।

इसमें सर्वप्रथम पदार्थ को यथार्थ जानने की ही बात की है। पदार्थ को यथार्थ जाने बिना कभी मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। सकल महिमावंत भगवंत शुद्धोपयोगी मुनि ही मोक्षतत्त्व का साधन तत्त्व हैं। वे मुनि कैसे हैं – उसका वर्णन करते हैं। प्रथम तो, 'अनेकान्त द्वारा ज्ञात होता जो सकल ज्ञातृतत्त्व का और ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप, उसके पांडित्य में प्रवीण हैं।'

अनेकान्त का अर्थ क्या ? वस्तु अपने रूप से है और पर रूप से नहीं है – ऐसा जानना, सो अनेकान्त है। आत्मा आत्मारूप है और शरीररूप नहीं है, इसलिए वह शरीरादि का कुछ नहीं कर सकता – ऐसा जानना, सो अनेकान्त है। किन्तु शरीरादि पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ और उस क्रिया से मुझे लाभ-हानि होते हैं – ऐसा माने तो उसने आत्मा और शरीर को भिन्न न मानकर दो पदार्थों को एक माना, इससे वह एकान्त है। शरीर की या पर की क्रिया आत्मा करता है – ऐसा माना, उसका तो यह अर्थ हुआ कि वह परपदार्थ पररूप है और मेरे रूप भी है तथा आत्मा अपने रूप है और पररूप भी है – ऐसी मान्यता, सो मिथ्यात्व है। ऐसी मिथ्यामान्यतावाले जीव को मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। पररूप हुए बिना आत्मा पर का नहीं कर सकता। आत्मारूप जो वस्तु नहीं है अर्थात् जिस वस्तु में आत्मा का अभाव है, उस वस्तु में आत्मा के कारण परिवर्तन नहीं होता। इसप्रकार अनेकांत ज्ञान द्वारा आत्मतत्त्व को और समस्त ज्ञेय पदार्थों को मुनियों ने यथार्थ जाना है। उन्हें जाने बिना मोक्ष का साधन जो शुद्धोपयोग है, वह प्रगट नहीं होता। अनेकान्त से जब समस्त स्व-परपदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करे, तब तो संसार से छूटने का प्रथम उपाय प्रगट होता है।

प्रत्येक तत्त्व अपने रूप से है और पररूप से नहीं है, इसलिए पर के अभाव से ही प्रत्येक तत्त्व बना हुआ है, प्रत्येक तत्त्व अपने से परिपूर्ण है और अपने से ही टिका हुआ है, पर के आधार से कोई तत्त्व स्थिर नहीं रहता। इसप्रकार स्व और परपदार्थ की भिन्नता तथा स्वतंत्रता का अनेकान्तज्ञान द्वारा निर्णय करे, वही सच्चा पाण्डित्य है। अनेक शास्त्र पढ़ लेना, सो पाण्डित्य है – ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्व-पर का विवेक प्रगट करना ही सच्चा पाण्डित्य है। वह विवेक प्रगट किये बिना सब शास्त्र-अध्ययन मिथ्या हैं।

आत्मतत्त्व अपने से अस्तिरूप है और पर के अभावरूप है, इसलिए परवस्तुओं के बिना ही उसका त्रिकाल निभ रहा है। तथापि मेरा तत्त्व पर के आश्रयवाला है, परवस्तु के बिना मेरा नहीं

चल सकता - ऐसी मिथ्या-मान्यता अनादिकाल से बना रखी है, उसके बिना अज्ञानी ने अनादिकाल से नहीं चलाया। मैं पर से भिन्न हूँ, मेरा तत्त्व पर के आश्रय बिना ही टिका हुआ है - ऐसा समझ लेने पर सम्यक्त्व प्रगट होने से जीव मिथ्यात्व के बिना निभाता है। सम्यक्त्व प्रगट हुआ, इसलिए मिथ्यात्व का अभाव हो गया, तथापि अभी अस्थिरता के कारण राग-द्वेष के भाव होते हैं। मिथ्यात्व के बिना चलाता है, किन्तु आसक्तिभाव के बिना नहीं चलाता, यदि उस आसक्ति के राग-द्वेषभाव बिना भी चलाये तो चारित्रदशा प्रगट हो। आत्मा का भान होने पर भी जबतक राग-द्वेष के विकल्प हों, तबतक शुद्ध उपयोग नहीं होता। जो शुद्ध आत्मस्वरूप का भान हुआ है, उसके अनुभव में स्थिर होने से आसक्ति के राग-द्वेषभाव भी छूटकर शुद्धोपयोग प्रगट होता है, उसका नाम चारित्रदशा है। ऐसी दशावाले मुनि को मोक्ष का साधन तत्त्व कहा जाता है। शुद्धोपयोग मोक्ष का साधन है, वह शुद्धोपयोग जिसके प्रगट हुआ है - ऐसे शुभोपयोगी मुनि को ही यहाँ अभेदरूप से मोक्षतत्त्व का साधन कहा है।

आत्मा का यथार्थ भान प्रगट करने के पश्चात् उसके विशेष अनुभव में लीन होकर शुद्धोपयोग प्रगट करनेवाले उन मोक्षमार्गी मुनियों की दशा का विशेष वर्णन करते हैं।

अंतरंग में जगमगाते हुए चैतन्य से भास्कर (तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को समस्त बहिरंग तथा अंतरंग संगति के परित्याग द्वारा विविक्त (भिन्न) किया है और (उससे) अंत:तत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूपगुप्त और सुषुप्तसमान (प्रशांत) रहने के कारण वे विषयों में किंचित् आसक्ति नहीं करते' - ऐसी दशावाले सफल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनि भगवंत उग्र पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं, इससे वे ही मोक्षतत्त्व का साधन है - ऐसा जानना। बाह्य में वस्त्रादि का संग नहीं है और अंतर में राग-द्वेष की वृत्ति का संग नहीं है, शुद्धात्मा के अनुभव में चैतन्यपिण्ड पृथक् अनुभव में आता है और परिणति स्वरूप में स्थिर हो गई है, इसलिए विषयों में किंचित्मात्र आसक्ति नहीं रही है - ऐसी मुनिदशा, वह मोक्ष का साधन है। इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एकसाथ आ जाते हैं।

272वीं गाथा में श्रमण को 'स्वरूपमंथर' कहा था अर्थात् स्वरूप में ऐसे जम गये हैं कि बाहर निकलने के आलसी हैं। यहाँ 273वीं गाथा में कहते हैं कि शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा की परिणति 'स्वरूपगुप्त और सुषुप्तसमान' है। उनकी परिणति आत्मा में ऐसी लीन हो गई है कि मानों

सो गई हो। जिसप्रकार निद्रा में पड़े हुए मनुष्य को बाहर का कुछ भान नहीं रहता, उसीप्रकार मुनि की परिणति आत्मस्वरूप में ऐसी सो गई है – ऐसी लीन हुई है कि बाह्य में कहीं विकल्प भी नहीं उठता। देखो, इसका नाम मोक्ष का साधन है। इस दशा के भान बिना लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में और व्रत-तप के शुभराग में मोक्षमार्ग मान रहे हैं, वह यथार्थ नहीं है।

आत्मा का स्वभाव सर्व को जानने का है, इसलिए वह ज्ञातृतत्त्व है और समस्त वस्तुएँ ज्ञेय हैं। पुण्य-पाप – दोनों अशुद्ध हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार उसका भी भान करके, मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वभाव हूँ – ऐसी प्रथम श्रद्धा किये बिना मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। शरीरादि वस्तुएँ मुझसे पर हैं और मेरी अवस्था में होनेवाले पुण्य-पाप दोनों अशुद्धभाव हैं, मेरा मूल स्वभाव शुद्ध चैतन्यरूप है – ऐसी सम्यक्श्रद्धा और सच्चा ज्ञान करने से अंशतः शुद्धता हुई, किन्तु अभी पुण्य-पाप के विकल्प दूर करके स्वरूप में स्थित न हो, तब तक शुद्धोपयोग नहीं होता, स्वरूप में लीन होने से शुद्धोपयोग प्रगट होता है, वही मोक्ष का साधनतत्त्व है।

अज्ञानीजन शुभ उपयोग को मोक्ष का कारण मानते हैं, किन्तु शुभ उपयोग तो पुण्यबंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग ही है।

राग-द्वेष रहित ज्ञायक आत्मतत्त्व का निर्णय करके जो उसके अनुभव में लीन हुए हैं, वे मोक्ष के साधक हैं, इसलिए वही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व है। गृहस्थपने में स्थित आत्मा को आत्मभान प्रगट करके सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप धर्म होता है, परन्तु चारित्रदशा प्रगट हुए बिना उसे मोक्ष का साधन पूर्ण हुआ नहीं कहलाता। श्री भरत चक्रवर्ती अरबों वर्ष तक राजपाट में रहे, उस समय उन्हें अंतर में आत्मा का भान था। क्षायिक सम्यक्त्व था, किन्तु चारित्रदशा नहीं थी। अस्थिरता के राग-द्वेष थे, इसलिए चारित्रदशा नहीं थी। एक बार दर्पण में देखते समय मुँह पर झुर्रिया देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और राजपाट का राग छोड़कर दीक्षा लेकर मुनि हो गये, उसी समय आत्मा के अनुभव में एकाग्र होने से शुद्धोपयोग चारित्र प्रगट हुआ। ऐसी शुद्धोपयोगी दशा, सो साक्षात् मोक्षमार्ग है। पुण्य और पाप दोनों अशुद्ध भाव हैं-अशुद्ध व्यापार हैं और उस भाव रहित आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना, वह शुद्धभाव है, शुद्ध व्यापार है, मोक्ष का साधन है।

महिमावंत शुद्ध उपयोगी मुनिवर अनादि संसार से रचित विकट कर्मपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न द्वारा पराक्रम प्रगट कर रहे हैं, इससे उन मुनि भगवंतों को मोक्षतत्त्व का साधन

तत्त्व जानना। शुद्धोपयोग द्वारा स्वरूप में लीन होनेवाले मुनि अनादिकाल के निद्धत और निकाचित कर्मों को भी क्षणभर में तोड़ डालते हैं। जिसप्रकार जमशेदपुर के लोहे के कारखाने की बड़ी भट्टी में लोहे का गोला भी मोम की भांति पिघल जाता है, उसीप्रकार यहाँ मुनिवरों ने 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – ऐसा भान करके स्वरूप के ध्यान द्वारा शुद्धोपयोगरूपी अग्नि प्रकट की है, उसमें अनादिकाल के निद्धत और निकाचित कर्म भी जलकर भस्म हो जाते हैं। इसप्रकार मुनि अनादि के कर्मकपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, वास्तव में अपनी ज्ञानशक्ति अनादि से संकुचित हैं, उसे केवलज्ञानरूप से प्रगट करने का उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, कर्म की बात निमित्त से की है। शुद्धोपयोगी मुनि कर्मकपाट को तोड़ने का जो अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, वही सच्चा पराक्रम है। मोक्ष के हेतुरूप अति उग्र प्रयत्न को ही यहाँ पराक्रम कहा है। संसार में जो लौकिक पराक्रम है, वह कहीं सच्चा पराक्रम नहीं है। जिसप्रकार बहुत काल से बन्द गुफा के वज्र-कपाटों को चक्रवर्ती तोड़ डालते हैं, उसीप्रकार चैतन्यचक्रवर्ती भगवंत शुद्धोपयोगी मुनि शुद्धोपयोग द्वारा अनादिकालीन कर्मकपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं। मानों केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है या करेंगे। इसी को मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व कहा जाता है।

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके उसमें स्थिर हो तो अनादि से बंधे हुए विकट कर्म भी टूट जाते हैं। कर्म का बल है और कर्म नहीं टूटेगा – ऐसी बात ही नहीं ली है, किन्तु कर्म कपाट को तोड़ने के अति उग्र प्रयत्न द्वारा पराक्रम प्रगट करने की ही बात ली है। जो शुद्धोपयोग द्वारा अनादिकालीन कर्मों को तोड़ने का और केवलज्ञान प्रगट करने का उग्र प्रयत्न कर रहे हैं – ऐसे सकल महिमावंत भगवंत शुद्ध उपयोगी मुनि – वह मोक्ष का साधनतत्त्व है। यही एक मोक्ष का साधन है, दूसरा कोई साधन नहीं है।

इसप्रकार 271वीं गाथा में संसारतत्त्व का, 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का और 273वीं गाथा में मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का वर्णन किया। अब, श्री आचार्य भगवान मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का 'सर्व मनोरथ के स्थानरूप' से अभिनंदन करते हैं, यह बात 274वीं गाथा में आयेगी।।273।।

सिद्धत्व के लक्ष से साधकत्व का प्रारम्भ

आत्मस्वभाव के इस अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना जीव अनंत बार पुण्य के फल में नवमें ग्रैवेयक तक गया। 'मैं स्वाधीनस्वरूप हूँ, पराश्रयरहित हूँ' – इसे भूलकर जैन के महाव्रतादि भी किए, वस्त्र का एक धागा भी न हो – ऐसी नग्न दिगंबरदशा धारण करके उस शुभभाव सहित अनंत बार पंचमहाव्रत का पालन किया, उत्कृष्ट तप किए, कोई अग्नि में डालकर जला दे, तथापि किंचित्मात्र क्रोध न करे – ऐसी क्षमा शुभभावपूर्वक रखी, तथापि सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि ऐसा अनंतबार करने पर भी धर्म नहीं हुआ। मात्र वैसे उच्च पुण्य करके अनंत बार स्वर्ग में गया। किन्तु मैं पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप की जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे परमार्थतः पृथक् हूँ, मन की-राग की सहायता से मैं शुद्धदशा प्रगट नहीं कर सकता – ऐसी स्वरूप की पूर्ण स्वाधीनता की बात नहीं जमी।

इससे यहाँ समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में आचार्यदेव सर्व सिद्धों की भाव तथा द्रव्य स्तुति करके, अपने और पर के आत्मा की सिद्ध समान स्थापना करके उसका विवेचन करते हैं... किसी को यह बात बड़ी मालूम हो, किन्तु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किए बिना पूर्णता का प्रारम्भ कैसे हो ? ज्ञानी, लोगों से कहें कि 'तुम प्रभु हो' – तो सुनते ही भड़क उठते हैं और कहते हैं कि अरे ! आत्मा को प्रभु क्यों कहा ? ज्ञानी कहते हैं कि सभी आत्मा प्रभु हैं। बाह्य विषय-कषाय में जिनकी दृष्टि है, वे आत्मा को प्रभु मानने से इन्कार करते हैं, लेकिन यहाँ कहते हैं कि – 'मैं सिद्ध हूँ' – ऐसा विश्वास करके 'हाँ' कहो ! पूर्णता के लक्ष बिना यथार्थ प्रारम्भ नहीं होता। 'मैं पामर हूँ, अपूर्ण हूँ' – ऐसा मानकर कोई चाहे जो करे, उसे परमार्थ से कोई प्रारम्भ नहीं है। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' – ऐसा कहने से 'ना' में से 'हाँ' नहीं आयेगी अर्थात् साधकत्व का प्रारम्भ नहीं होगा। केंचुए को भले ही कोई दूध-मिश्री पिलाये, तथापि वह नाग नहीं हो सकता; उसीप्रकार पहले से ही आत्मा को हीन मानकर पूर्णता का पुरुषार्थ करना चाहे तो नहीं होगा। साँपेलिया (नाग का बच्चा) यदि केंचुए जितना ही हो, तथापि वह फुंकार मारता हुआ नाग है, वह तेजवीर्यवान होता है। छोटा सा साँप का बच्चा भी फणिधर सर्प है, उसीप्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में अशक्तिवान दिखलाई दे, तथापि स्वभाव से तो सिद्ध जैसा पूर्ण है, उस पूर्णता के लक्ष से आगे बढ़नेवाला साधक पूर्ण तक पहुँचे बिना (पूर्ण हुए बिना) नहीं रहेगा। इसलिए श्री आचार्यदेव पहले से ही पूर्ण सिद्ध-साध्यपने की बात प्रारम्भ करते हैं। कितनी उमंग है। (श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग से)

सच्चे और झूठे का विवेक

कोई कहे कि अपने को सच्चे-झूठे धर्म की परीक्षा नहीं करना है, अवगुण क्या कहलाता है और गुण क्या कहलाता है, वह नहीं जानना है, जहाँ से जैसा मिले वहाँ से वैसा लेना है – ऐसा कहनेवाले तो गारे के खूंटे अथवा ध्वजपुच्छ जैसे हैं। जिसप्रकार ध्वजा की पूंछ जिस ओर हवा चले, उस ओर उड़ने लगती है और गारे में गाड़ा हुआ खूंटा जिस ओर गाय फिरे उसी ओर झुक जाता है, उसीप्रकार वे अज्ञानी जहाँ जाते हैं, वहाँ 'हाँ जी हाँ' करते हैं, किन्तु सत्य-असत्य को न्याय से नहीं समझते। 'एक को सच्चा मानूँगा' तो दूसरे पर द्वेष आयेगा, इसलिए सब को समान मानना चाहिए, सच्चे-झूठे की परीक्षा नहीं करना चाहिए' – ऐसी मान्यता में तो अविवेक और मूढ़ता है। सत्य-असत्य का नि:शंक विवेक करने में भी जिसकी शुद्धि नहीं चलती उसे धर्म नहीं होता। गुड़ और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन – सबको समान मानो – ऐसा वे कहते हैं, किन्तु घर में रोटी-दाल में थोड़ा-सा भी फेर पड़ जाये तो बिगड़ उठते हैं। भात में कंकर आ जाए तो वहाँ भात और कंकर को समान मानकर खा नहीं लेते, किन्तु भात और कंकर का विवेक करके कंकर को निकाल देते हैं। यदि ऐसा न करे तो लोग उसे मूर्ख मानते हैं। उसीप्रकार धर्म में सच्चे-झूठे का बराबर विवेक करके, असत्य का सेवन छोड़ना चाहिए। यदि सच्चे-झूठे का विवेक न करे और सब समान माने तो वह समभाव नहीं है किन्तु धर्ममूढ़ता है। संसार में-घर में अच्छे-बुरे का विवेक करता है और परमार्थ में सत्य-असत्य का विवेक न करे – असत्य को सत्य में और सत्य को असत्य में मिलाये तो वह मूढ़ता है, समभाव नहीं है। सभी आत्मा भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूप से हैं, वर्तमान अवस्था में तो फेर है, इसलिए अवस्था का विवेक भी करना चाहिए। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री – दोनों को समान मानने में विवेक क्या रहा ? पुत्री, स्त्री और माता यह तीनों 'स्त्री' रूप से (नारी जाति की अपेक्षा से) समान हैं, किन्तु वर्तमान लोकव्यवहार में समान नहीं हैं। जो ऐसा न जाने, उसे लोक व्यवहार में मूर्ख कहा जाता है, उसीप्रकार लोकोत्तर आत्मधर्म में भी जो विवेक न रखे, उसे भी मूर्ख कहा जाता है, इसलिए सच्चे-झूठे को समझकर सत्य का ही स्वीकार करना चाहिए। जिसके पास से धर्म समझना है उसने स्वयं धर्म प्राप्त किया है या नहीं और उसमें अलौकिक गुण क्या है ? आदि प्रथम जानना चाहिए।

– समयसार प्रवचन से

☆ ☆ ☆

पुण्य, पाप और धर्म संबंध में

आत्मार्थी जीव का विवेक कैसा होता है ?

विकार का कार्य करने योग्य है – ऐसा माननेवाला जीव विकार को नहीं हटा सकता। कोई जीव आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने, अज्ञानभाव से विकार करता है, तथापि न माने तो विकार को नहीं हटा सकता। पुण्य बंधन है, इसलिए मोक्षमार्ग में उसका निषेध है – यह बात ठीक है, किन्तु व्यवहार से भी उसका निषेध करके पापमार्ग में प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष के समान है, अकेले पाप से तो नरक-निगोद में जायेगा। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमान में शुद्धभाव में न रह सके तो शुभ में युक्त होना चाहिए किन्तु अशुभ में तो नहीं ही जाना चाहिए। पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना तो किसी भी प्रकार ठीक नहीं है और यदि कोई पुण्यभाव को ही धर्म मान ले तो उसे भी धर्म नहीं होता। कोई कहते हैं कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा सामनेवाले का पुण्य होगा तो हमारी तृष्णा कम होगी और दान करने का भाव होगा – इसप्रकार व्यर्थ के बहाने निकालते हैं और राग कम नहीं करते। तो हे भाई ! अभी तू निर्विकलप शुद्धभाव को तो प्राप्त नहीं हुआ है और पुण्यभाव भी तुझे नहीं करना है तो क्या तू पाप में ही जाना चाहता है ? तृष्णा कम करना तो तेरे परिणामों के आधीन है, सामनेवाले के पुण्य के आधीन नहीं है। इसलिए पुण्य-पाप रहित आत्मा के भानसहित वर्तमान योग्यता के अनुसारा सारा विवेक प्रथम समझना चाहिए और कोई शुभभाव में ही संतोष मानकर रुक जाये अथवा उससे धीरे-धीरे धर्म होगा – इसप्रकार पुण्य को धर्म का साधन माने तो उसके भी भवचक्र कम नहीं होंगे। धर्म का प्रारम्भ करने की इच्छावाले को तीव्र आसक्ति तो कम करना ही चाहिए, किन्तु उतने से तर जायेगा – ऐसा माने तो वह भ्रम है। जीव को पाप से छुड़ाकर मात्र पुण्य में नहीं लगा देना है, किन्तु पाप और पुण्य दोनों से रहित ज्ञायकस्वभाव बतलाना है। इसलिए पुण्य-पाप और उन दोनों से रहित धर्म – उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजयुं तेह
त्यां त्यां ते ते आचरे आत्मार्थी जन अेह।

(आत्मसिद्धि, गाथा 8)

मैं अक्रिय ज्ञानानंद शुद्ध आत्मा हूँ – यह निश्चय और उसका भान करके उसमें अंशतः स्थिरता की वृद्धि करके राग को दूर करना, सो व्यवहार। मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ, अशुभ से बचने के लिए शुभभाव में युक्त होना भी विकार है, वह मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है – ऐसा समझना और अपने परिणाम सुधारने का प्रयत्न चालू रखना – वह आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है। प्रथम पुण्य-पापरहित आत्मस्वभाव को श्रद्धा ज्ञान में निश्चित् करके पश्चात् पुण्य-पापरूप विकार से हटकर अन्तर में अरूपी ज्ञान-शांति में स्थिर होना ही आत्मार्थी का कर्त्तव्य है। उसे माने और आचरण करे तथा उसी को मानने और आचरण करने की अंतर से भावना रखे, वह भी आत्मार्थी है।

– समयसार प्रवचन से

अवतार बंद होने का उपाय

अपना आत्मा जैसा है वैसा समझने की रीति सूक्ष्म है; उसे भूलकर अन्य सबकुछ किया किंतु उसका फल संसार (अवतार) है। उन अवतारों को बंद करने के लिये अनंत तीर्थंकरों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की श्रद्धा, उसकी प्रतीति और उसमें स्थिरता—वह उपाय कहा है।

ज्ञानी की सीख

हे जीव! तेरे ज्ञानस्वभाव में जाननेरूप क्रिया होती है, उसे भूलकर पर को अच्छा-बुरा मानने की आकुलता क्यों करता है? शांत हो भाई! अनंत काल में दुर्लभ मनुष्यभव, तथा उसमें महा महंगा सत्समागम-श्रवण प्राप्त हुआ और तेरा स्वतंत्रस्वभाव है, उसे तू न माने तो कैसे चल सकता है?

—समयसार प्रवचन से

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)

समयपर्यन्त का ही बल रहा; और द्रव्य भी त्रिकाली जानने पर उस पर त्रिकाली बल आया, इसलिए उसकी मुख्यता हुई और उसकी रुचि में श्रद्धा का बल ढ़ल गया। इस प्रकार स्वज्ञेय को जानने से सम्यक्त्व आ जाता है। इसलिए इस ज्ञेय-अधिकार का दूसरा नाम सम्यक्त्व-अधिकार भी है।

स्वज्ञेय, परज्ञेय से बिलकुल भिन्न है। यहाँ राग भी स्वज्ञेय में आता है। समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है, वहाँ स्वभावदृष्टि में राग की गौणता हो जाती है, इसलिए वहाँ तो 'राग, आत्मा में होता ही नहीं; राग जड़ के साथ तादात्म्यवाला है'—ऐसा कहा जाता है। वहाँ दृष्टि अपेक्षा से राग को पर में डाल दिया और द्रव्य की दृष्टि करायी। और यहाँ, इस प्रवचनसार में ज्ञान-अपेक्षा से कथन है, इसलिए सम्पूर्ण स्वज्ञेय बताने के लिए राग को भी स्वज्ञेय में लिया है। दृष्टि-अपेक्षा से राग पर में जाता है और ज्ञान-अपेक्षा से वह स्वज्ञेय में आता है; परन्तु राग में ही स्वज्ञेय पूरा नहीं हो जाता। रागरहित द्रव्य-गुण-स्वभाव भी स्वज्ञेय है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को स्वज्ञेयरूप से जाना, वहाँ राग में से एकत्वबुद्धि छूटकर रुचि का बल द्रव्य की ओर ढल गया। अकेले राग को सम्पूर्ण तत्त्व स्वीकार करने से स्वज्ञेय सम्पूर्ण प्रतीति में नहीं आता था और द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति होने से उस प्रतीति का बल त्रिकाली की ओर बढ़ जाता है, इसलिए त्रिकाली की मुख्यता होकर उस ओर रुचि का बल ढ़लता है। इस प्रकार इसमें भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

स्वद्रव्य-गुण-पर्याय, यह सब मिलकर स्वज्ञेय है; राग भी स्वज्ञेय है। किन्तु ऐसा जानने से रुचि का बल राग से हटकर अन्तर में ढल जाता है। त्रिकाली तत्त्व को भूलकर मात्र अंश को ही स्वीकार करती थी; वह मिथ्यारुचि थी; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को ज्ञेयरूप जानकर, अव्यक्त—शक्तिरूप अन्तरस्वभावोन्मुख हो जाता है, तभी स्वज्ञेय को पूर्ण प्रतीति में लिया है और तभी उसने भगवान-कथित द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप सुना—ऐसा कहा जाता है।

जैसे—गुड़ को गुड़रूप से जाने और विष को विषरूप से जाने तो वह ज्ञान बराबर है, किन्तु गुड़ को विषरूप से जाने और विष को गुड़रूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों मिलकर एक समय में सम्पूर्ण स्वज्ञेय है, उसमें द्रव्य को द्रव्यरूप से जाने, गुण को गुणरूप से जाने और पर्याय को पर्यायरूप से जाने तो ज्ञान सच्चा हो, किन्तु जैसा है, वैसा न जाने या क्षणिक पर्याय को ही सम्पूर्ण तत्त्व माने ले अथवा तो क्षणिक पर्याय को सर्वथा ही न जाने—तो वह

ज्ञान सच्चा नहीं होता। पदार्थ के सच्चे ज्ञान बिना श्रद्धा भी सच्ची नहीं होती और ज्ञान-श्रद्धान बिना सम्यक्चारित्र, वीतरागता या मुक्ति नहीं होती।

त्रिकाली तत्त्व की रुचि की ओर उन्मुख होकर सम्पूर्ण स्वज्ञेय प्रतीति में आया, तब परज्ञेय को जानने की ज्ञान की यथार्थ शक्ति विकसित हुई। ज्ञान की वर्तमान दशा रागसन्मुख रुककर उसे सम्पूर्ण स्वज्ञेय मानती थी, वह ज्ञान मिथ्या था, उसमें स्व-परप्रकाशक ज्ञान-सामर्थ्य नहीं था और ज्ञान की वर्तमान दशा में अन्तर की सम्पूर्ण वस्तु को ज्ञेय बनाकर, उस ओर उन्मुख हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हुआ और उसमें स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई।

परिणाम के प्रवाहक्रम में वर्तनेवाला द्रव्य है—ऐसा निश्चित किया, वहाँ रुचि का बल उस द्रव्य की ओर ढ़लने से रुचि सम्यक् हो गयी। उस पर्याय में राग का अंश वर्तता है, वह भी ज्ञान के ख्याल से बाहर नहीं है, ज्ञान उसे स्वज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वज्ञेय को (द्रव्य-गुण को तथा विकारी-अविकारी पर्यायों को) स्वीकार करने से रुचि तो द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर उन्मुख होकर सम्यक् हो गयी और ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ज्ञान सच्चा हुआ—ऐसा इस ज्ञेय अधिकार का वर्णन है।

ज्ञेय के तीनों अंशों को (—द्रव्य-गुण-पर्याय को) स्वीकार करे, वह ज्ञान सम्यक् है, एक अंश को ही (राग को ही) स्वीकार करे तो वह ज्ञान मिथ्या है, और सर्वथा रागरहित स्वीकार करे तो वह ज्ञान भी मिथ्या है; क्योंकि रागपरिणाम भी साधक के वर्तते हैं, उन रागपरिणामों को स्व-ज्ञेयरूप से न जाने तो रागपरिणाम में वर्तनेवाले द्रव्य को भी नहीं माना।

रागपरिणाम भी द्रव्य के तीन काल के परिणाम की पद्धति में आ जाता है; रागपरिणाम कहीं द्रव्य के परिणाम की परम्परा से पृथक् नहीं है। तीनों काल के परिणामों की परम्परा में वर्त कर ही द्रव्य स्थित है।

निगोद या सिद्ध-कोई भी परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, और उस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है। परिणाम की जो रीति है—जो क्रम है-जो परम्परा है-जो स्वभाव है, उसमें द्रव्य अवस्थित है। वह द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामस्वभाव का अतिक्रम नहीं करता। यहाँ 'स्वभाव' कहने से शुद्ध परिणाम ही नहीं समझना किन्तु विकारी या अविकारी समस्त परिणाम, द्रव्य का स्वभाव है और वह स्वज्ञेय में आ जाता है और जो ऐसा जानता है, उसे शुद्ध

परिणाम की उत्पत्ति होने लगती है। स्वज्ञेय में परज्ञेय नहीं है और परज्ञेय में स्वज्ञेय नहीं है—ऐसा जानने में ही वीतरागी श्रद्धा आ जाती है। क्योंकि मेरा स्वज्ञेय, परज्ञेयों से भिन्न है—ऐसा निर्णय करने से किसी भी परज्ञेय के अवलम्बन का अभिप्राय नहीं रहा, इसलिए स्वद्रव्य को अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा हुई। सम्पूर्ण द्रव्य, सो परिणामी और उसका अंश, सो परिणाम है; उसमें पूर्ण परिणामी की अन्तर्दृष्टि बिना परिणाम का सच्चा ज्ञान नहीं होता। परिणामों की परम्परा को द्रव्य नहीं छोड़ता, किन्तु उस परम्परा में ही वर्तता है; इसलिए लक्ष्य का बल कहाँ गया ?—द्रव्य पर। इस प्रकार इसमें भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

द्रव्य तो अनन्त शक्ति का त्रिकाली पिण्ड है और परिणाम तो एक समयपर्यन्त का अंश है—ऐसा जाना, वहाँ श्रद्धा का बल अनन्त शक्ति के पिण्ड की ओर ढल गया, इससे द्रव्य की प्रतीति हुई और द्रव्य-पर्याय दोनों का यथार्थ ज्ञान हुआ।

प्रत्येक वस्तु अपने परिणामस्वभाव में वर्त रही है, उस परिणाम के तीन लक्षण (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) हैं; इसलिए उस परिणाम में प्रवर्तित वस्तु में भी यह तीनों लक्षण आ जाते हैं, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व परिणामस्वभाव से पृथक् नहीं है। वस्तु 'है'—ऐसा कहते ही उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आ जाते हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बिना 'वस्तु है'—ऐसा सिद्ध नहीं होता। परिणाम 'है'—ऐसा कहने से वह परिणाम भी उत्पाद -व्यय-ध्रौव्यवाला है। 'अस्तित्व (—सत्)' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्त्व को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले यथार्थ श्रवण करके वस्तु को बराबर जाने कि—'यह ऐसा ही है' तो ज्ञान निःशंक हो और ज्ञान निःशंक तो तभी अन्तर में उसका मंथन करके निर्विकल्प अनुभव करे, किन्तु जहाँ ज्ञान ही मिथ्या हो और 'ऐसा होगा या वैसा'—ऐसी शंका में झूलता हो, वहाँ अन्तर में मंथन कहाँ से होगा ? निःशंक ज्ञानरहित मंथन भी मिथ्या होता है अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा होती है। पहले वस्तु-स्थिति क्या है, वह बराबर ध्यान में लेना चाहिए। वस्तु को बराबर ध्यान में लिये बिना किसका मंथन करेगा ?

वस्तु, परिणाम का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु, परिणाम का उल्लंघन करे, तब तो 'सत्' का ही उल्लंघन करे, इसलिए 'है' ऐसा सिद्ध न हो। वस्तु तीनों काल के परिणाम के प्रवाह में वर्तती है।

अहो, यह तो सम्पूर्ण ज्ञेय का पिण्ड प्रतीति में लेने का मार्ग कहो अथवा पूर्ण ज्ञायक पिण्ड की दृष्टि कहो; सम्यक् नियतवाद कहो या यथार्थ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो, वीतरागता कहो अथवा तो धर्म कहो; वह सब इसमें आ जाता है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही यह (उपरोक्तानुसार) है; ऐसा वस्तुस्वभाव आनन्दपूर्वक मानना—सम्मत करना। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने, उसे अपूर्व आनन्द हुए बिना न रहे। जहाँ वस्तु को त्रिलक्षण जाना, वहाँ आत्मा स्वयं सम्यक् स्वभाव में ढ़ले बिना नहीं रहता—वस्तु सम्यक्-स्वभावरूप परिणमित होनेपर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता ही है। इसलिए यहाँ कहा है कि ऐसे वस्तुस्वभाव को आनन्द से मान्य करना।

देखो, उस-उस परिणाम का वस्तु उल्लंघन नहीं करती, इसलिए दृष्टि कहाँ गयी ? वस्तु पर दृष्टि गयी; परिणाम-परिणामी की एकता हुई; इसलिए सम्पूर्ण सत् एकाकार हो गया—सम्पूर्ण स्वज्ञेय अभेद हो गया। ऐसे स्वज्ञेय को जाने और माने, वहाँ वस्तुस्वभाव की सम्यक्प्रतीति और अपूर्व आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

जिस प्रकार केवलज्ञानी लोकालोक—ज्ञेय को सत्रूप से जानता है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी उसे ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है, और उसे जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को भी वह स्वज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। वहाँ उसकी रुचि स्वभाववान् ऐसे अन्तरद्रव्य की ओर ढलती है, उसी रुचि के बल से निर्विकल्पता हुए बिना नहीं रहती; निर्विकल्पता में आनन्द का अनुभव भी साथ ही होता है।

प्रश्न : कितने काल में कितने जीव मोक्ष में जाते हैं—ऐसी तो कोई बात इसमें नहीं आयी ?

उत्तर : इतने काल में इतने जीव मोक्ष जाते हैं—ऐसी गिनती की यहाँ मुख्यता नहीं है, किन्तु मोक्ष कैसे हो ? उसकी मुख्य बात है। स्वयं ऐसे यथार्थ स्वभाव को पहिचाने तो अपने को सम्यक्त्व और वीतरागता हो और मोक्ष हो जाये। आत्मा का मोक्ष कब होता है—ऐसी काल की मुख्यता नहीं है, किन्तु आत्मा का मोक्ष किस प्रकार होता है, यही मुख्य प्रयोजन है और इसी की यह बात चल रही है।

जिस प्रकार सत् है, उसी प्रकार स्वीकार करे तो ज्ञान सत् हो और शान्ति आये। इस गाथा में

दो सम-अंक [99] हैं और वह भी दो नौ। नव प्रकार के क्षायिकभाव हैं, इसलिए नव का अंक क्षायिकभाव सूचक है और दो नव इकट्ठे हुए, इसलिए समभाव— वीतरागता बतलाते हैं—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र-दोनों साथ आ जायें, ऐसी अपूर्व बात है। अंक तो जो है सो है, किन्तु यहाँ अपने भाव का आरोप करना है न!

वर्तमान—प्रवर्तित परिणाम में वस्तु वर्त रही है, इसलिए सम्पूर्ण वस्तु ही वर्तमान में वर्तती है। वह वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहकर सत् सिद्ध करते हैं।

आत्मा सत्, जड़ सत्, एक द्रव्य के अनन्त गुण सत्, तीन काल के स्व-अवसर में होनेवाले परिणाम सत्, प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्! बस, इस सत् में कोई फेरफार नहीं होता।—ऐसा स्वीकार किया वहाँ 'मिथ्यात्व को बदलकर सम्यक्त्व करूँ'—यह बात नहीं रही। क्योंकि जिसने ऐसा स्वीकार किया, उसने अपने ज्ञायकभाव को स्वीकार किया और वह जीव द्रव्यस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ वर्तमान परिणाम में सम्यक्त्य का उत्पाद हुआ, और उस परिणाम में पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का तो अभाव ही है। पूर्व के तीव्र पाप-परिणाम, वर्तमान परिणाम में बाधक नहीं होते, क्योंकि वर्तमान में उनका अभाव है। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना, उसको वह विपरीत मान्यता बाधक होती है, किन्तु पूर्व के पाप तो उसको भी बाधक नहीं है। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना, उसने द्रव्य को त्रिलक्षण नहीं जाना। यदि 'त्रिलक्षण द्रव्य के वर्तमान उत्पाद-परिणाम में पूर्व परिणाम का व्यय है, इसलिए पूर्व परिणाम बाधा देते हैं'—ऐसा वह न माने, किन्तु प्रतिसमय के वर्तमान परिणाम को स्वतन्त्र सत् जाने और उसकी दृष्टि, वे परिणाम जिसके हैं, ऐसे द्रव्य पर जायें; इसलिए द्रव्यदृष्टि में उसे वीतरागता का ही उत्पाद होता जाये — इस प्रकार इसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वीतराग या राग, ज्ञान या अज्ञान, सिद्ध या निगोद किसी भी एक समय के परिणाम को यदि निकाल दें तो द्रव्य का सत्पना ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उस-उस समय के परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है, इसलिए अपने क्रमबद्धपरिणामों के प्रवाह में वर्तमान वर्त रहे द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही आनन्द से मानना।

स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है—यह बात सिद्ध करने के लिए प्रथम तो उत्पाद-व्यय-

ध्रौव्ययुक्त परिणाम कहकर स्वभाव सिद्ध किया, और उसे स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है—ऐसा अभी सिद्ध किया।

पहले परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने के लिए प्रदेशों का उदाहरण था, वह परिणाम की बात पूर्ण हुई और अब द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझायेंगे।

卐 व्याख्यान के बाद - चर्चा में से 卐

पहले 'वर्तमान' को सिद्ध किया और फिर उस 'वर्तमान में वर्तनेवाला' सिद्ध किया। परिणाम किसके ? परिणामी के। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्युयक्त वर्तमान परिणाम और उस परिणाम में वर्तनेवाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त द्रव्य, वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। इसकी प्रतीति, सो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति है। सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति करने से रुचि का बल वर्तमान अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य की ओर ढलता है—यही सम्यग्दर्शन है।

परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित् करने से भी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योंकि द्रव्य अपने परिणामस्वभाव को नहीं छोड़ता।

परिणामस्वभाव में कौन वर्तता है ?—द्रव्य।

परिणाम को कौन नहीं छोड़ता ?—द्रव्य।

इसलिए ऐसा निश्चित् करने से दृष्टि द्रव्य पर जाती है, और द्रव्यदृष्टि होते ही परिणाम में सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि में ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ आ जाता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व दूर करने के लिए और सम्यक्त्व प्रगट करने के लिए दूसरा कोई अलग पुरुषार्थ करना नहीं रहता। द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

प्रभुश्री वीर वर्द्धमान वैराग्य मंगल-दिन

मगसिर कृष्णा 10 सोमवार

[गाथा 99]

जिसे धर्म करना हो, उसे कैसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए—उसकी यह बात है। धर्म आत्मा की पर्याय है, इसलिए वह आत्मा में ही होता है। आत्मा का धर्म पर से नहीं होता और न पर के द्वारा ही होता है और पर्याय का धर्म पर्याय में से नहीं होता, किन्तु द्रव्य में से होता है; धर्म तो पर्याय में ही होता है, किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय-सन्मुख देखने से या पर्याय का आश्रय करने से) धर्म नहीं होता, किन्तु द्रव्य की सन्मुखता से पर्याय में धर्म होता है। पर का तो आत्मा में अभाव है, इसलिए परसन्मुख देखने से धर्म नहीं होता।

अब, जिसे अपनी अवस्था में धर्म करना है, उसे अधर्म को दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है। देखो, इसमें 'धर्म करना है'—ऐसा कहने से उसमें नवीन पर्याय के उत्पाद की स्वीकृति आ जाती है; 'अधर्म को दूर करना है'—उसमें पूर्व पर्याय के व्यय की स्वीकृति आ जाती है; और 'आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है'—इसमें अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य का स्वीकार आ जाता है। इस प्रकार धर्म करने की भावना में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभाव की स्वीकृति आ जाती है। यदि वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्म की उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे और वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी यदि काल के छोटे से छोटे भाग में न हों तो एक समय में अधर्म दूर करके धर्म न हो सके। इसलिए धर्म करनेवाले को वस्तु को प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभाववाली जानना चाहिए।

द्रव्य-गुण नित्य हैं और पर्याय क्षणिक हैं; उन तीनों को जानकर नित्यस्थायी द्रव्य की ओर वर्तमान पर्याय को उन्मुख किये बिना धर्म नहीं होता। वस्तु में अवस्था तो नवीन -नवीन होती ही रहती है। यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो ? और यदि पुरानी अवस्था का अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो ? तथा परिणामों में अखण्डरूप से ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थित कहाँ रहे ? इसलिए वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, यह तीनों जानना चाहिए। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, यह लक्षण है और परिणाम, लक्ष्य है तथा परिणाम में वस्तु वर्तती है, इसलिए वह वस्तु भी उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है।

कोई भी परिणाम लो तो प्रवाह की अखण्ड धारा में वह ध्रौव्य है, अपने स्वकाल-अपेक्षा से उत्पादरूप है और पूर्व परिणाम-अपेक्षा से व्ययरूप है। इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, लक्षण है और परिणाम, लक्ष्य है। परिणाम किसी अन्य पदार्थ के कारण नहीं होते, किन्तु वे स्वयं अपने अवसर में सत् हैं। भगवान की वीतरागी मूर्ति के कारण या गुरु के उपदेश के कारण जीव को राग के अथवा ज्ञान के परिणाम हुए—ऐसा नहीं है तथा परजीव दुःखी है, इसलिए अपने को अनुकम्पा के भाव उत्पन्न हुए, ऐसा भी नहीं है, किन्तु जीव के प्रवाहक्रम में उस-उस भाववाले परिणाम सत् हैं। किसी भी द्रव्य के परिणाम की अखण्ड धारा में एक भी समय का खण्ड नहीं पड़ता। यदि इस प्रकार परिणामों को जाने तो उन परिणामों के प्रवाह मे प्रवर्तमान द्रव्य को भी पहिचान ले, क्योंकि अपने परिणाम के स्वभाव को कोई द्रव्य नहीं छोड़ता —उल्लंघन नहीं करता।

ऐसा वस्तुस्वभाव समझे बिना कहीं बाहर से धर्म नहीं आ जाएगा। जैसे—लकड़ी के भारे बेचने से लखपति नहीं हुआ जा सकता किन्तु हीरा-माणिक की परख करना सीखे तो उसके व्यापार से लखपति होता है। (यह तो दृष्टान्त है।) उसी प्रकार अन्तर के चैतन्य-हीरे को परखने की कला में ही धर्म की कमाई हो सकती है। इसके अतिरिक्त किन्हीं बाह्य-क्रियाकाण्डों से या शुभराग से धर्म की कमाई नहीं होती। देखो, यह तो द्रव्यानुयोग का सूक्ष्म विषय है, इसलिए अन्तर में सूक्ष्म दृष्टि करे तो समझ में आ सकता है।

वस्तु में जिस काल में जो परिणाम होता है, वह सत् है; तीन काल के परिणाम अपने -अपने काल में सत् हैं और ऐसे परिणामों में द्रव्य वर्तमान वर्त रहा है। वह द्रव्य उत्पाद -व्यय-ध्रौव्य—ऐसे त्रिलक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ऐसे तीन भिन्न-भिन्न लक्षण नहीं है, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, यह तीनों मिलकर द्रव्य का एक लक्षण है।

भाई! अपने ज्ञान में तू ऐसा निर्णय कर कि द्रव्य में जिस समय जो परिणाम है, उस समय वही सत् है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, उसमें कोई फेरफार करनेवाला नहीं हूँ।—ऐसा जानने से पर्याय के राग का स्वामित्व और अंशबुद्धि दूर हो जाती है और ध्रौव्य के लक्ष्य से सम्यक्त्व एवं वीतरागता होती है—यही धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है; भिन्न-भिन्न द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा उस-उस द्रव्य की सत्ता पहिचानी जाती है। एक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा दूसरे द्रव्य की सत्ता नहीं जानी जाती। शरीर में रोटी नहीं आयी, उस परिणाम द्वारा पुद्गलद्रव्य की सत्ता जानी जाती है, किन्तु उसके द्वारा जीव के धर्मपरिणाम नहीं पहिचाने जा सकते। रोटी नहीं आयी, वहाँ पुद्गलद्रव्य ही अपनी परिणामधारा में वर्तता हुआ उस परिणाम द्वारा लक्षित होता है और उस समय आत्मा अपने ज्ञानादि परिणामों द्वारा लक्षित होता है। जिस द्रव्य के जो परिणाम हों, उनके द्वारा द्रव्य को पहिचानना चाहिए; उसके बदले एक द्रव्य के परिणाम दूसरे द्रव्य ने किये—ऐसा जो मानता है, उसने वस्तु के परिणामस्वभाव को नहीं जाना अर्थात् सत् को नहीं जाना है। वस्तु सत् है और सत् का लक्ष्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, इसलिए वस्तु में स्वभाव से ही प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते रहते हैं, तो दूसरा उसमें क्या करेगा?—या तो ज्ञाता रहकर वीतरागभाव करेगा, या फेरफार करने का अभिमान करके मिथ्याभाव करेगा, किन्तु पदार्थ में तो कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता।

'जीव के व्रत करने के भावों के कारण द्वारिकानगरी जलने से बच गयी, और कोई व्रत करनेवाला नहीं रहा, इसलिए द्वारिका नगरी जल गयी'—ऐसा जो मानता है, उसे वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं है। अथवा तो—किसी जीव के क्रोध के कारण द्वारिकानगरी जल गयी—ऐसा भी नहीं है। द्वारिकानगरी का प्रत्येक पुद्गल अपने परिणाम की धारा में वर्त रहा द्रव्य है। अपने प्रवाहक्रम में अपने स्वकाल में उसके परिणाम हुए हैं और व्रत या क्रोधादि, जीव के परिणाम में भिन्न-भिन्न वर्तते हैं। उनमें एक के परिणाम के कारण दूसरे के परिणाम हों या रुकें—ऐसा माननेवाला मूढ़ है; भगवान कथित त्रिलक्षण वस्तुस्वभाव को उसने नहीं जाना है।

वस्तु प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करेगी या पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करने जाएगी? परवस्तु भी अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। वस्तु अपने वर्तमान परिणाम का उल्लंघन करके दूसरे के परिणाम करने जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता। निमित्त के बल से उपादान के परिणाम हों, यह बात इसमें कहीं नहीं रहती। प्रत्येक वस्तु स्वयं नित्य परिणामी स्वभाववाली है—'परिणमन करता हुआ-परिणमन करता हुआ ही नित्य' स्वभाव है। ऐसे स्वभाव में सदैव विद्यमान वस्तु स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित है—ऐसा सानन्द मानना-अनुमोदन करना।

❀

अब, मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं:—

जिस प्रकार—'जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है, ऐसे लटकते हुए मोती के हार में, अपने-अपने स्थान में प्रकाशित समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होने से और पहले-पहले के मोती प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता डोरा अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है.....'

हार में एक-दो मोती नहीं हैं किन्तु अनेक मोतियों का हार है और वह हार जैसा -तैसा नहीं पड़ता है, किन्तु 'लटकता' हुआ लिया है। १०८ मोतियों का हार लिया जाये तो उसमें सभी मोती अपने-अपने स्थान में प्रकाशित हैं और पीछे-पीछे के स्थान में पीछे-पीछे का मोती प्रकाशित होता है, इसलिए उन मोतियों की अपेक्षा से हार का उत्पाद है तथा एक के बाद दूसरे मोती को लक्ष्य में लेने से पहले का मोती लक्ष्य में से छूट जाता है, इसलिए पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नहीं होता—इस अपेक्षा से हार का व्यय है; और सभी मोतियों में परस्पर सम्बन्ध जोड़नेवाला अखण्ड डोरा होने से हार ध्रौव्यरूप है।—इस प्रकार हार, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ऐसे त्रिलक्षणवाला निश्चित होता है। हार का प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में है; पहला मोती दूसरे नहीं होता, दूसरा मोती तीसरे नहीं होता। जो जहाँ है, वहाँ वही है; पहले स्थान में पहला मोती है, दूसरे स्थान में दूसरा मोती है और हार का अखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोती की माला फेरते समय पीछे-पीछे का मोती अंगुली के स्पर्श से आता जाता है, उस अपेक्षा से उत्पाद, पहले-पहले का मोती छूटता जाता है, उस अपेक्षा से व्यय, और माला के प्रवाहरूप से प्रत्येक मोती में वर्तती हुई माला ध्रौव्य है। इस प्रकार उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इस प्रकार दृष्टान्त कहा। अब सिद्धान्त कहते हैं :—

'मोती के हार की भाँति, जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है, ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य में, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित होते हुए (प्रगट होते हुए) समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होने से और पहले-पहले के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित (-स्थायी) होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।'

- दृष्टान्त में अमुक लम्बाईवाला हार था, सिद्धान्त में नित्यवृत्तिवाला द्रव्य है।
- दृष्टान्त में लटकता हार था; सिद्धान्त में परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

◆ दृष्टान्त में मोतियों का अपना-अपना स्थान था, सिद्धान्त में परिणामों का अपना-अपना अवसर है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाला सम्पूर्ण द्रव्य सत् है, उसमें कहीं फेरफार नहीं होता—इस प्रकार सम्पूर्ण सत् लक्ष्य में आये बिना ज्ञान में धैर्य नहीं होता। जिसे पर में कहीं फेरफार करने की बुद्धि है, उसका ज्ञान अधीर-आकुल-व्याकुल है और सत् जानने से कहीं भी फेरफार की बुद्धि नहीं रही; इसलिए ज्ञान धीर होकर अपने में स्थिर हुआ —ज्ञातारूप से रह गया। ऐसे का ऐसा सम्पूर्ण द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से सत् पड़ा है—इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जाने से सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हुआ; और तत्पश्चात् भी उस द्रव्य की सन्मुखता से क्रमशः वीतरागता की वृद्धि होती जाती है।—ऐसा धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य-स्थायी है; नित्य-स्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भाँति सदैव परिणमित होता है; उसके परिणाम अपने-अपने अवसर में प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार माला में मोतियों का क्रम निश्चित जमा हुआ है; माला फिराने से वह क्रम उल्टा-सीधा नहीं होता। उसी प्रकार द्रव्य के तीन काल के परिणामों का निश्चित् स्व-अवसर है, द्रव्य के तीन काल के परिणामों का अपना-अपना जो अवसर है, उस अवसर में ही वे होते हैं; आगे-पीछे नहीं होते। ऐसा निश्चय करते ही ज्ञान में वीतरागता होती है। यह निश्चित करने से अपना वीर्य पर से विमुख होकर द्रव्योन्मुख हो गया, पर्यायमूढ़ता नष्ट हो गयी, और द्रव्य की सन्मुखता से वीतरागता की उत्पत्ति होने लगी। सामनेवाले पदार्थ के परिणाम उसके अवसर के अनुसार और मेरे परिणाम मेरे अवसर के अनुसार—ऐसा निश्चित किया, इसलिए पर में या स्व में कहीं भी परिणाम के फेरफार की बुद्धि न रहने से ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्रता को प्राप्त होता है। उसी को धर्म और मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक ओर केवलज्ञान और सामने द्रव्य के तीन काल के स्व-अवसर में होनेवाले समस्त परिणाम; इनमें फेरफार होता ही नहीं। लोग भी 'हाथ पर आम नहीं उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखने को कहते हैं; उसी प्रकार 'द्रव्य के परिणाम में फेरफार नहीं होता'—ऐसी वस्तुस्थिति की प्रतीति करने से ज्ञान में धैर्य आ जाता है और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा, वहाँ मोक्षपर्याय होते देर नहीं लगती। इस प्रकार क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति में मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्य के समस्त परिणाम स्व-अवसर में प्रकाशित होते हैं, यह सामान्यरूप से बात की;

उसमें अब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को उतारते हैं। द्रव्य जब देखो तब वर्तमान परिणाम में वर्तता है। वर्तमान में उस काल के जो परिणाम हैं, उस काल में वही प्रकाशित होते हैं—उनके पहले के परिणाम उस समय प्रकाशित नहीं होते। पहले परिणाम के उत्पाद -व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्व-परिणाम के व्ययरूप हैं'—ऐसा कहा था, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने में कथनशैली में परिवर्तन करके ऐसा कहा है कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रगट नहीं होते;' इसलिए उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा हो, उस परिणाम की अपेक्षा द्रव्य उत्पादरूप है, उसके पूर्व के परिणाम—जो कि इस समय प्रगट नहीं हैं—की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है, और समस्त परिणामों में अखण्ड बहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप हैं, इस प्रकार द्रव्य का त्रिलक्षणपना ज्ञान में निश्चित् होता है। ऐसा ज्ञेयों का निर्णय करनेवाला ज्ञान स्व में स्थिर होता है, उसका नाम 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है।

मोतियों की माला लेकर जप कर रहा हो, उसमें पहले एक मोती अंगुली के स्पर्श में आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श में आता है, इस समय पहला मोती स्पर्श में नहीं आता, इसलिए पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा, इसलिए माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमशः होनेवाले परिणामों में वर्तनेवाले द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद-व्यय तो पर्याय के ही होते हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमें परिणमन नहीं होता।' तो ऐसा नहीं है। द्रव्य एकान्त नित्य नहीं है, किन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है, इसलिए परिणाम बदलने से उन परिणामों में वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणामरूप से उत्पन्न न होता हो तो द्रव्य भूतकाल में रह जाएगा अर्थात् वह वर्तमान-वर्तमानरूप नहीं वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जाएगा। इसलिए परिणाम का उत्पाद-व्यय होने से द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय नहीं होंगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित नहीं होगी; इसलिए द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय में ही उत्पाद-व्यय हैं और द्रव्य

तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमें उत्पाद-व्यय होते ही नहीं'—ऐसा नहीं है। परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय में त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने-अपने काल में होते हैं। परद्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होते हैं और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य में क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से परद्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गयी और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व में भी पर्याय पर से दृष्टि हट गयी, क्योंकि उस पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु द्रव्य में से पर्याय प्रगट होती है; इसलिए द्रव्य पर दृष्टि गयी। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकाली सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम में स्वभाव की धारारूप बहता, और विभाव की धारा का नाश करता हुआ परिणमन करता है; इसलिए द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात की थी, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात की है।

द्रव्य की सत्ता अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। मात्र उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्य की सत्ता नहीं है, किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य —ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्य की सत्ता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ऐसी तीन पृथक्-पृथक् सत्तायें नहीं हैं,किन्तु वे तीनों मिलकर एक सत्ता है।

पहले तो जो परिणाम उत्पन्न हुए, वे अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्यरूप—ऐसी परिणाम की बात थी; और यहाँ तो अब अन्तिम योगफल निकालकर द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उतारते हुए ऐसा कहा है कि द्रव्य में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं, इससे द्रव्य का उत्पाद है, पहले-पहले के परिणाम उत्पन्न नहीं होते, इसलिए द्रव्य व्ययरूप है, और सर्वपरिणामों में अखण्डरूप से प्रवर्तमान होने से द्रव्य ही ध्रौव्य है। इस प्रकार द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

अहो! समस्त द्रव्य अपने वर्तमान परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं, पूर्व के परिणाम वर्तमान में नहीं रहते, इसलिए पूर्व परिणामरूप से व्यय को प्राप्त हैं और अखण्डरूप से समस्त परिणामों के प्रवाह में द्रव्य ध्रौव्यरूप से वर्तते हैं। बस, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से वर्तते हुए द्रव्य टंकोत्कीर्ण सत् हैं। ऐसे सत् में कुछ भी आगे-पीछे नहीं होता। अपने ज्ञान में ऐसे टंकोत्कीर्ण सत् को स्वीकार

करने से, फेरफार करने की बुद्धि तथा 'ऐसा क्यों' ऐसी विस्मयता दूर हुई, सम्यक्श्रद्धा और वीतरागता आ गयी। इसलिए ज्ञायकपना मोक्ष का मार्ग हुआ।

यह 'वस्तुविज्ञान' कहा जा रहा है। पदार्थ का जैसा स्वभाव है, वैसा ही उसका ज्ञान करना, सो पदार्थविज्ञान है। ऐसे पदार्थविज्ञान के बिना कभी शान्ति नहीं होती। जहाँ प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाली है—ऐसा जाना, वहाँ वस्तु के भिन्नत्व की वाड़ बँध गयी। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में पर का अभाव है और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में मेरा अभाव है; मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में मैं, और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर —ऐसा निश्चित करने से पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ अर्थात् ध्रौव्य द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद होने लगा, वही धर्म है। पहले, पर को मैं बदल दूँ—ऐसा मानता था, तब पराश्रयबुद्धि से विकारभावों की ही उत्पत्ति होती थी और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की रक्षा नहीं करता था; इसलिए वह अधर्म था।

आचार्य भगवान ने इस गाथा में सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त बतलाकर अद्भुत बात की है। वर्तमान-वर्तमान समय के परिणाम की यह बात है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान परिणाम में साथ ही वर्त रहा है। [यहाँ पूज्य स्वामीजी का आशय यह समझाने का है कि परिणाम और द्रव्य दोनों साथ ही हैं। द्रव्य कभी भी परिणाम से रहित नहीं होता, परिणाम कभी भी द्रव्य से रहित नहीं होता। परिणाम इस समय हुए और द्रव्य गतकाल में रह जाये - ऐसा नहीं होता और द्रव्य है किन्तु परिणाम नहीं है—ऐसा भी नहीं होता। इसलिए परिणाम और द्रव्य दोनों वर्तमान में साथ ही हैं—ऐसा समझना] द्रव्य में स्वकाल में सदैव वर्तमान परिणाम होते हैं; जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम में ही वर्त रहा है; ऐसे वर्तमान में प्रवर्तमान द्रव्य की प्रतीति, सो वीतरागता का मूल है।

'परिणाम का स्व-अवसर' कहा, वहाँ परिणाम का जो वर्तन है, वही उसका अवसर है; अवसर और परिणाम दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जिसका जो अवसर है, उस समय वही परिणाम वर्तता है, उस परिणाम में वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है, उससे पूर्व के परिणाम में द्रव्य नहीं वर्तता, इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपने की अपेक्षा से द्रव्य ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

जीव और अजीव समस्त द्रव्य और उनके अनादि-अनन्त परिणाम सत् हैं, वह सत् स्वयंसिद्ध है, उसका कोई दूसरा रचयिता या परिणमन करानेवाला नहीं है। जिस प्रकार कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्य के कोई परिणाम भी आगे-पीछे नहीं होते। द्रव्य में अपने काल में प्रत्येक परिणाम उत्पन्न होता है, पूर्व के परिणाम उत्पन्न नहीं होते और द्रव्य अखण्ड धारारूप बना रहता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाले द्रव्य को जानने से, अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होती है और उस ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से भगवान आत्मा स्वभावधारा में बहता है, विभावधारा से व्यय को प्राप्त होता है और उस प्रवाह में स्वयं अखण्डरूप से ध्रुव रहता है; इस प्रकार वीतरागता होकर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

अहो! मुक्ति के कारणभूत ऐसा लोकोत्तर वस्तुविज्ञान समझानेवाले सन्तों को शत्-शत् वन्दन हो!

[गाथा 99 टीका समाप्त]

भव्य श्रोताजनों को तत्कालबोधक भगवान
श्री गुरुवाणी माता की जय हो!

❀ ❀ ❀

पदार्थ का परिणामस्वभाव

卐 मगसिर कृष्णा 5 बुधवार 卐

❀ प्रवचनसार, गाथा 99 भावार्थ ❀

'प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है, इसलिए 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।' प्रत्येक वस्तु तीनों काल अपने स्वभाव में अर्थात् अपने परिणाम में रहती है। सुवर्ण अपने कुण्डल, हार आदि परिणाम में वर्तता है; कुण्डल, हार आदि परिणामों से सुवर्ण पृथक् नहीं वर्तता। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान वर्तते हुए परिणाम में वर्तता है, अपने परिणाम से पृथक् कोई द्रव्य नहीं रहता। कोई भी पदार्थ अपने

परिणामस्वभाव का उल्लंघन करके पर के परिणाम का स्पर्श नहीं करता, और परवस्तु उसके परिणाम का उल्लंघन करके अपने को स्पर्श नहीं करती। प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न अपने-अपने परिणाम में ही रहती है। आत्मा अपने ज्ञान या रागादि परिणाम में स्थित है, किन्तु शरीर की अवस्था में आत्मा विद्यमान नहीं हैं। शरीर की अवस्था में पुद्गल विद्यमान है। शरीर के अनन्त रजकणों में भी वास्तव में प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी अवस्था में विद्यमान है। ऐसा वस्तुस्वभाव देखनेवाले को पर में कहीं भी एकत्वबुद्धि नहीं होती और पर्यायबुद्धि के राग-द्वेष नहीं होते।

आत्मा और प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी नयी अवस्थारूप उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है और अखण्ड वस्तुरूप से ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक समय के परिणाम, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हैं—ऐसे परिणाम, सो स्वभाव हैं और वस्तु, स्वभाववान है। स्वभाववान-द्रव्य अपने परिणामस्वभाव में स्थित है। कोई भी वस्तु अपना स्वभाव छोड़कर दूसरे के स्वभाव में वर्ते अथवा तो दूसरे के स्वभाव को करे—ऐसा कभी नहीं होता। शरीर की जो अवस्थायें हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं, उनमें पुद्गल वर्तते हैं, आत्मा उनमें नहीं वर्तता; तथापि आत्मा उस शरीर की अवस्था में कुछ करता है—ऐसा जिसने माना, उसकी मान्यता मिथ्या है। जिस प्रकार अफीम की कड़वाहट आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाम में अफीम ही विद्यमान है, उसमें कहीं गुड़ विद्यमान नहीं है और गुड़ के मिठास आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाम में गुड़ ही विद्यमान है, उसमें कहीं अफीम विद्यमान नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में आत्मा विद्यमान है, उनमें कहीं इन्द्रियाँ या शरीरादि विद्यमान नहीं हैं; इसलिए उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता और पुद्गल के शरीर आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में पुद्गल ही विद्यमान है, उनमें कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है; इसलिए आत्मा, शरीरादि की क्रिया नहीं करता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में ही विद्यमान है। बस, ऐसे पदार्थ के स्वभाव को जानना, सो वीतरागी-विज्ञान है, उसी में धर्म आता है।

प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा—सीमा अपने-अपने स्वभाव में रहने की है; अपने स्वभाव

की सीमा से बाहर निकलकर पर में कुछ करे—ऐसी किसी पदार्थ की शक्ति नहीं है।—ऐसी वस्तुस्थिति हो, तभी प्रत्येक तत्त्व अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्वरूप से रह सकता है। यही बात अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त से कही जाये तो, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वचतुष्टय से (द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से) अस्तिरूप है, और पर के चतुष्टय से वह नास्तिरूप है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न स्थित है—ऐसा निश्चित् करने से स्वतत्त्व को परतत्त्व से भिन्न जाना और अपने स्वभाव मे प्रवर्तमान स्वभाववान द्रव्य की दृष्टि हुई; यही सम्यक्रुचि, सम्यक्ज्ञान और वीतरागता का कारण है।

जैसी वस्तु हो, उसे वैसा ही जानना, सो सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार लौकिक में गुड़ को गुड़ जाने और अफीम को अफीम जाने तो गुड़ और अफीम का सच्चा ज्ञान है, किन्तु यदि गुड़ को अफीम जाने या अफीम को गुड़ जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। उसी प्रकार जगत के पदार्थों में जड़-चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से स्थित है—ऐसा जानना, सो सम्यक्ज्ञान है और एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के कारण कुछ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्याज्ञान है; उसने पदार्थ के स्वभाव को जैसा है, वैसा नहीं जाना, किन्तु विपरीत माना है।

आत्मा का 'ज्ञायक' स्वभाव है और पदार्थों का 'ज्ञेय' स्वभाव है; पदार्थों में फेरफार - आगे-पीछे हो—ऐसा उनका स्वभाव नहीं है; और उनके स्वभाव में कुछ फेरफार करे —ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार आँख, अफीम को अफीमरूप से और गुड़ को गुड़रूप से देखती है; किन्तु अफीम को बदलकर गुड़ नहीं बनाती और गुड़ को बदलकर अफीम नहीं बनाती; और वह अफीम भी अपना स्वभाव छोड़कर गुड़रूप नहीं होती तथा गुड़ भी अपना स्वभाव छोड़कर अफीमरूप नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व-पर ज्ञेयों को यथावत् जानता है, किन्तु उनमें कहीं कुछ भी फेरफार नहीं करता और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यरूप नहीं होते। बस, ज्ञान और ज्ञेय के ऐसे स्वभाव की प्रतीति, सो वीतरागी श्रद्धा है—ऐसा ज्ञान, सो वीतरागी-विज्ञान है।

स्वतन्त्र ज्ञेयों को यथावत् जानना, सो सम्यक्ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान क्या कार्य करता

है ?—जानने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कहीं फेरफार करने का कार्य ज्ञान नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध सत् है, और उसमें पर्यायधर्म है; वे पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाली हैं; इसलिए पदार्थ में प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं, उनमें वह पदार्थ वर्त रहा है। इस प्रकार स्वतन्त्रता को न जाने तो उसने द्रव्य की स्वतन्त्रता को भी नहीं जाना है, क्योंकि 'सत्' अपने परिणाम में वर्तता हुआ स्थित है। यदि वस्तु स्वयं स्थित रहने के लिए दूसरे के परिणाम का आश्रय माँगे, तो वह वस्तु ही 'सत्' नही रहती। 'सत्' का स्वभाव अपने ही परिणाम में प्रवर्तन करने का है। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सत् के अपने परिणाम का उत्पाद यदि दूसरे से होता हो तो वह स्वयं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' ही नहीं रहता। इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा मानते ही परिणाम की स्वतन्त्रता की स्वीकृति तो आ ही गयी और परिणाम, परिणाम में से नहीं, किन्तु परिणामी (द्रव्य) में से आते हैं, इसलिए उसकी दृष्टि परिणामी पर गयी, वह स्वद्रव्य के सन्मुख हुआ, स्वद्रव्य की सन्मुखता में सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है, वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न : सोना और ताँबा—दोनों का मिश्रण होने पर तो वे एक-दूसरे में एकमेक हो गये हैं न ?

उत्तर : भाई! वस्तुस्थिति को समझो। सोना और ताँबा कभी एकमेक होते ही नहीं। संयोगदृष्टि से सोना और ताँबा एकमेक हुए—ऐसा कहा जाता है, किन्तु पदार्थ के स्वभाव की दृष्टि से तो सोना और ताँबा कभी एकमेक हुए ही नहीं हैं, क्योंकि जो सोने के रजकण हैं, वे अपने सुवर्ण-परिणाम में ही वर्तते हैं और जो ताँबे के रजकण हैं, वे अपने ताँबा-परिणाम में ही वर्तते हैं; एक रजकण दूसरे रजकण के परिणाम में नहीं वर्तता। सोने के दो रजकणों में से भी उसका एक रजकण दूसरे में नहीं वर्तता। यदि एक पदार्थ दूसरे में और दूसरा तीसरे में मिल जाये, तब तो जगत में कोई स्वतन्त्र वस्तु ही न रहे। सोना और ताँबा 'मिश्र हुआ' ऐसा कहने से भी उन दोनों की भिन्नता ही सिद्ध होती है, क्योंकि 'मिश्रण' दो का होता है, एक में 'मिश्रण' नहीं कहलाता; इसलिए मिश्रण कहते ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूप से सत् रहती है, दूसरा कोई विपरीत माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वभाव बदल नहीं जाता। कोई अफीम को गुड़ माने तो उससे कहीं अफीम की कड़वाहट दूर नहीं हो जाएगी; अफीम को गुड़ मानकर खाये तो उसे कड़वाहट का ही अनुभव होगा। उसी प्रकार तत्त्व को जैसा का तैसा स्वतन्त्र न मानकर, पर के आधार से स्थित माने तो कहीं वस्तु तो पराधीन नहीं हो जाती, किन्तु उसने सत् को विपरीत माना; इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या होता है; और उस मिथ्याज्ञान के फल में उसे चौरासी का अवतार होता है। कोई जीव पुण्य का शुभराग करके ऐसा माने कि मैं धर्म करता हूँ, तो कहीं उसे राग से धर्म नहीं होगा, किन्तु उसने वस्तुस्वरूप को विपरीत जाना है, इसलिए उस अज्ञान के फल में उसे चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

परिणाम, स्वभाव है और स्वभाववान, द्रव्य है—ऐसा जानकर स्वभाववान द्रव्य की रुचि होते ही सम्यक्त्व का उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्व का व्यय और अखण्डरूप से आत्मा की ध्रुवता है।

प्रत्येक वस्तु 'सत्' है, 'सत्' त्रिकाल स्वयंसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। किन्तु वस्तु कभी असत् नहीं होती। वस्तु त्रिकाल है; इसलिए उसका कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि त्रिकाली का रचयिता नहीं होता। यदि रचयिता कहो तो उससे पूर्व वस्तु नहीं थी—ऐसा सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तु का नित्यपना नहीं रहेगा। वस्तु त्रिकाली सत् है और वह वस्तु, परिणामस्वभाववाली है; त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनों काल के वर्तमान-वर्तमान परिणामों की रचना करता है, वे परिणाम भी स्व-अवसर में सत् हैं, इसलिए उन परिणामों का रचयिता भी दूसरा कोई नहीं है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य का कर्ता कोई-ईश्वर आदि नहीं है, उसी प्रकार उस त्रिकाली द्रव्य के वर्तमान परिणाम का कर्ता भी कोई दूसरा (निमित्त, कर्म या जीव आदि) नहीं है। अपने प्रत्येक समय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में स्थित रहता है, इसलिए द्रव्य सत् है। यदि द्रव्य दूसरे के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अवलम्बन करे तो वह स्वयं सत् नहीं रह सकता। इसलिए जो जीव, द्रव्य को यथार्थतया 'सत्' जानता हो, वह द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को नहीं मानता; द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का

कर्ता दूसरे को माने, उस जीव ने वास्तव में 'सत्' को नहीं जाना है।

अहो! वस्तु के सत् स्वभाव को जाने बिना बाह्य क्रियकाण्ड के लक्ष्य से अनन्त काल बिता दिया, किन्तु वस्तु का स्वभाव सत् है, उसे नहीं जाना; इसलिए जीव, संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

वस्तु, परिणाम में परिणमन करती है, वह परिणाम से पृथक् नहीं रहती। प्रत्येक समय के परिणाम के समय सम्पूर्ण वस्तु साथ में वर्त रही है—ऐसा जाने तो अपने को क्षणिक राग जितना न मानकर, उस समय सम्पूर्ण वस्तु रागरहित विद्यमान है—उसका विश्वास करे; इससे राग की रुचि का बल टूटकर सम्पूर्ण वस्तु पर रुचि का बल ढ़ला, अर्थात् सम्यक्रुचि उत्पन्न हुई; राग और आत्मा का भेदज्ञान हुआ। मैं पर में नहीं वर्तता, मेरे परिणाम में परवस्तु नहीं वर्तती, किन्तु मैं अपने परिणाम में ही वर्तता हूँ; इस प्रकार परिणाम और परिणामी की स्वतन्त्रता जानने से रुचि पर में नहीं जाती, परिणाम पर भी नहीं रहती, किन्तु परिणामी द्रव्य में प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् सम्यक्रुचि होती है।

'वस्तु, परिणाम में वर्तती है।' बस! ऐसा निश्चित् करने में पर्यायबुद्धि दूर होकर वस्तुदृष्टि हो जाती है; उसी में वीतरागता विद्यमान है। मेरी भविष्य की केवलज्ञानपर्याय में भी यह द्रव्य ही वर्तेगा; इसलिए भविष्य की केवलज्ञानपर्याय को देखना नहीं रहा, किन्तु द्रव्यसन्मुख ही देखना रहा। द्रव्य की सन्मुखता में अल्प काल में केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

अहो! मैं अपने परिणामस्वभाव में हूँ; परिणाम, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है, उसी में आत्मद्रव्य वर्तता है—इस प्रकार स्ववस्तु की दृष्टि होने से पर से, लाभ-हानि मानने का मिथ्याभाव नहीं रहा, वहाँ सम्यग्ज्ञान पर्यायरूप से उत्पाद है, मिथ्याज्ञान पर्यायरूप से व्यय है और ज्ञान में अखण्ड परिणामरूप से ध्रौव्यता है। इस प्रकार इसमें धर्म आता है।

'परिणामी के परिणाम हैं'—ऐसा न मानकर जिसने पर के कारण परिणामों को माना, उसने परिणामी को दृष्टि में नहीं लिया, किन्तु अपने परिणाम को पर करता है—ऐसा माना;

इसलिए स्व-पर को एक माना; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। परिणाम, परिणामी के हैं—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की रुचि में स्वद्रव्य की सम्यक्रुचि उत्पन्न होकर मिथ्यारुचि का नाश हो जाता है।

देखो, यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। जैनदर्शन कोई वाड़ा या कल्पना नहीं है, किन्तु वस्तुयें जिस स्वभाव से हैं, वैसी सर्वज्ञ भगवान ने देखी हैं, और वही जैनदर्शन में कही हैं। जैनदर्शन कहो या वस्तु का स्वभाव कहो। उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान सच्चा होगा और भव का परिभ्रमण दूर होगा। यदि वस्तु के स्वभाव को विपरीत मानेगा तो असत् वस्तु की मान्यता से तेरा ज्ञान मिथ्या होगा और परिभ्रमण का अन्त नहीं आयेगा, क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान पाप माना गया है; वही अनन्त संसार का मूल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम है, वह स्वभाव है और स्वभाव है, वह स्वभाववान के कारण है। इस प्रकार स्वभाव और स्वभाववान को दृष्टि में लेने से, पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को मैं करूँ या मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को पर करे, यह बात नहीं रहती; इसलिए स्वयं अपने स्वभाववान की ओर उन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उसी में धर्म आ गया। लोगों ने बाह्य में धर्म मान रखा है, किन्तु वस्तुस्थिति अन्तर की है। लोगों के माने हुए धर्म में और वस्तुस्थिति में पूर्व-पश्चिम दिशा जितना अन्तर है।

'वस्तु' उसे कहते हैं, जो अपने गुण-पर्याय में वास करे; अपने गुण-पर्याय से बाहर वस्तु कुछ नहीं करती और न वस्तु के गुण-पर्याय को कोई दूसरा करता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्वार्थ का श्रद्धान, सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् श्रावक और मुनि के व्रतादि होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि माने, वह तो 'राख पर लीपन' मानना है। आत्मा की प्रतीति हुए बिना कहाँ रहकर व्रतादि करेगा?

जिस प्रकार गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता मानता है कि—'गाड़ी मेरे कारण चल रही है', किन्तु गाड़ी के परिणाम में उसका प्रत्येक परमाणु वर्त रहा है और कुत्ते के रागादि परिणाम में कुत्ता है; गाड़ी और कुत्ता—कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते, तथापि

कुत्ता व्यर्थ मानता है कि 'मुझसे गाड़ी चल रही है।' उसी प्रकार परवस्तु के परिणाम स्वयं उसके अपने से होते हैं; उसे देखकर अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि पर के परिणाम मुझसे होते हैं, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक तत्त्व के परिणाम सत् हैं, उसमें कोई दूसरा क्या करेगा? ऐसा स्वतन्त्र वस्तु का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ भगवान ने ज्ञान में देखा है। कहीं भगवान ने देखा, इसलिए वस्तु का ऐसा स्वभाव है—ऐसा नहीं है, और ऐसा वस्तु का स्वभाव है, इसलिए भगवान को उसका ज्ञान हुआ – ऐसा भी नहीं है। ज्ञेय वस्तु का स्वभाव सत् है और ज्ञान भी सत् है। प्रथम ऐसे सत्स्वभाव को समझो! जो ऐसे स्वभाव को समझ ले, उसी ने वस्तु को वस्तुरूप से जाना है—ऐसा कहा जाये।

कर्म-परिणाम में पुद्गल वर्तते हैं और आत्मा के परिणाम में आत्मा वर्तता है; कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते; इसलिए कर्म, आत्मा को परिभ्रमण नहीं कराते। अपने स्वतन्त्र परिणाम को न जानकर, कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा माना है, उस विपरीत मान्यता से ही जीव भटक रहा है, किन्तु कर्मों ने उसे नहीं भटकाया। उस परिभ्रमण के परिणाम में आत्मा वर्त रहा है। प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होने का प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है—यह समझे तो परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाती है और द्रव्यदृष्टि में सम्यक्त्व और वीतरागता का उत्पाद होता है, यह धर्म है।

यदि द्रव्य के एक समय का सत् दूसरे से हो तो उस द्रव्य का वर्तमान सत्पना नहीं रहता; और वर्तमान सत् का नाश होने से त्रिकाली सत् का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणाम को स्वतन्त्र सत् माने बिना त्रिकाली द्रव्य का सत्पना सिद्ध नहीं होता; इसलिए द्रव्य का वर्तमान दूसरे (-निमित्त से) होता है—इस मान्यता में मिथ्यात्व होता है, उसमें सत् का स्वीकार नहीं आता। सत् का नाश नहीं होता, किन्तु जिसने सत् को विपरीत माना है, उसकी मान्यता में सत् का अभाव होता है। त्रिकाली सत् स्वतन्त्र, किसी के बनाये बिना है; और प्रत्येक समय का वर्तमान सत् भी स्वतन्त्र किसी के बनाये बिना है। ऐसे स्वतन्त्र सत् को विपरीत-पराधीन मानना, सो मिथ्यात्व है, वही महान अधर्म है। लोग काला बाजार आदि में तो अधर्म मानते हैं, किन्तु विपरीत मान्यता से सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का घात कर डालते हैं, उस

विपरीत मान्यता के पाप की खबर नहीं है। मिथ्यात्व तो धर्म का महान काला बाजार है, उस काले बाजार से चौरासी के अवतार की जेल है। सत् को जैसे का तैसा माने तो मिथ्यात्वरूपी काले बाजार का महान पाप दूर हो जाये और सच्चा धर्म हो; इसलिए सर्वज्ञदेव कथित वस्तु स्वभाव को बराबर समझना चाहिए।

❀

अहो! वीतरागी तात्पर्य!!

卐 मगसिर कृष्णा 12 बुधवार 卐

[प्रवचनसार, गाथा 99 भावार्थ]

प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है, इसलिए वह 'सत्' है। वस्तु अपने परिणाम में वर्तमान रहती हो, तभी सत् रहे न? यदि वर्तमान परिणाम में न रहती हो तो वस्तु 'सत्' किस प्रकार रहे? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला परिणाम, वह वस्तु का स्वभाव है और उस वर्तमान परिणाम में वस्तु निरन्तर वर्त रही है, उससे वह सत् है।

आत्मा का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी एक है और उस क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश, सो प्रदेश है। उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य की प्रवाहधारा एक है और उस प्रवाहधारा का छोटे से छोटा अंश, सो परिणाम है।

❀ क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश, सो प्रदेश है।

❀ काल अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश, सो परिणाम है।

यह तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने के लिए वर्णन है। परिणाम, परिणामी में से आता है—ऐसे परिणामी द्रव्य की दृष्टि कर तो उस परिणामी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम उत्पन्न हो, स्थिर रहे और बढ़कर पूर्ण हो।

प्रत्येक परिणाम अपने स्वकाल में उत्पन्न होता है, पूर्व परिणाम से व्ययरूप है और

अखण्ड प्रवाह में वह ध्रौव्य है। केवलज्ञानपरिणाम अपने स्वरूप की अपेक्षा से स्वकाल में उत्पादरूप है, पूर्व की अल्पज्ञ पर्याय अपेक्षा से वह व्ययरूप है और द्रव्य के अखण्ड प्रवाह में तो वह केवलज्ञानपरिणाम ध्रौव्य है; इस प्रकार समस्त परिणाम अपने-अपने वर्तमान काल में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले हैं, और उन-उन वर्तमान परिणामों में वस्तु वर्त रही है, अर्थात् वस्तु वर्तमान में ही पूर्ण है। ऐसी वस्तु की दृष्टि कर तो उसके आश्रय से धर्म होता है। ज्ञानी, केवलज्ञानपर्याय के काल को नहीं ढूँढ़ते (उस पर दृष्टि नहीं रखते), क्योंकि वह पर्याय इस समय तो सत् नहीं है, किन्तु भविष्य में अपने स्वकाल में वह सत् है; इसलिए ज्ञानी तो वर्तमान में सत्—ऐसे ध्रुव द्रव्य को ही ढूँढ़ते हैं—(ध्रुव पर दृष्टि रखते हैं।) इस अपेक्षा से नियमसार में उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक—इन चारों भावों को विभावभाव कहा है। जो पर्याय वर्तमान उत्पादरूप से वर्तती है, वह तो अंश है; केवलज्ञान पर्याय भी अंश है; वह वर्तमान प्रगट नहीं है और भविष्य में प्रगट होगी—इस प्रकार परिणाम के काल पर देखते नहीं रहना, किन्तु वर्तमान परिणाम के समय ध्रुवरूप से सम्पूर्ण द्रव्य वर्त रहा है, उस द्रव्य की प्रतीति करना इसमें आता है; द्रव्य की दृष्टि होने में वीतरागता होती है। शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है; वीतरागता को तात्पर्य कहने से स्वभाव की दृष्टि करने का ही तात्पर्य है—ऐसा आया, क्योंकि वीतरागता तो स्वभाव की दृष्टि से होती है। अन्तर में द्रव्यस्वभाव पर लक्ष्य रहने से वीतरागता हो जाती है; इससे ध्रुव द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही कार्यकारी हुई। पर्याय को ढूँढ़ना नहीं रहा, अर्थात् पर्याय की दृष्टि नहीं रही। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञाता रहा, उसमें वीतरागता होती जाती है।

वीतरागता ही तात्पर्य है, किन्तु वह वीतरागता कैसे हो? वीतरागपर्याय को शोधने से (उस पर्याय के सन्मुख देखने से) वीतरागता नहीं होती, किन्तु ध्रुवतत्त्व के आश्रय में रहने से पर्याय में वीतरागतारूप तात्पर्य हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि होने में ही तात्पर्य आ जाता है। इसलिए शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है—ऐसा कहो या शास्त्र का तात्पर्य स्वभावदृष्टि है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई;
लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई।'

जैसा भगवान का आत्मा, वैसा ही अपना आत्मा; उसके स्वभाव में कोई भेद नहीं है। ऐसे स्वभाव का लक्ष्य करना ही शास्त्रों का सार है।

यहाँ परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात चल रही है, उसमें से वीतरागी तात्पर्य किस प्रकार निकलता है, वह बतलाया है। परिणामों की ध्रौव्यता तो अखण्ड प्रवाह अपेक्षा से है। अब, परिणामों का प्रवाहक्रम एकसाथ तो वर्तता नहीं हैं, इसलिए परिणामों की ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित नहीं हो सकते। परिणाम को ध्रौव्य कब कहा ?—परिणामों के सम्पूर्ण प्रवाह की अपेक्षा से उसे ध्रौव्य कहा है; सम्पूर्ण प्रवाह एक समय में प्रगट नहीं हो जाता, इसलिए परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित करनेवाले की दृष्टि एक-एक परिणाम के ऊपर से हटकर ध्रुव द्रव्य पर गयी। परिणाम के ऊपर की दृष्टि से (पर्यायदृष्टि से) परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित नहीं होती। परिणामों का अखण्ड प्रवाह कहीं एक ही परिणाम में तो नहीं है, इसलिए अखण्ड की—त्रिकाली ध्रौव्य की—ध्रुव-स्वभाव की दृष्टि हुए बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी ख्याल में नहीं आ सकते।

वस्तु एक समय में पूर्ण है; उसके परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना निश्चित करने से द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। वर्तमान परिणाम से उत्पाद है, पूर्व परिणाम से व्यय है और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य है; इसलिए अखण्ड प्रवाह की दृष्टि में ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि गयी और तभी परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित हुए।

इसमें पुरुषार्थ कहाँ काम करता है ?—ऐसा निश्चित किया वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही कार्य करने लगा और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम अपने स्वकाल में होते हैं, वे तो होते ही रहते हैं; किन्तु वैसा निश्चित करनेवाले की दृष्टि ध्रुव पर पड़ी है। ध्रौव्य-दृष्टि हुए बिना यह बात नहीं जम सकती।

इस ज्ञेय-अधिकार में मात्र पर-प्रकाशक की बात नहीं है, परन्तु स्वसन्मुख स्व-प्रकाशकपने सहित पर-प्रकाशक की बात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता में स्व-

प्रकाशक हुआ, वहाँ सम्पूर्ण जगत के समस्त पदार्थ भी ऐसे ही हैं—ऐसा पर-प्रकाशकपना ज्ञान में विकसित हो ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कब निश्चित होते हैं ? ज्ञायक चैतन्यद्रव्य की रुचि तथा उस ओर उन्मुखता होने से सब निश्चित हो जाता है। जिस प्रकार स्व के ज्ञानसहित ही पर का सच्चा ज्ञान होता है; उसी प्रकार ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद-व्यय का सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कहीं पर के ऊपर तो देखना नहीं है; और मात्र अपनी पर्यायसन्मुख भी देखना नहीं है; विकल्प को दूर करके निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्ष्य में निर्विकल्पता नहीं होती, किन्तु ध्रुव के लक्ष्य से निर्विकल्पता हो जाती है; इसलिए पर्याय के उत्पाद-व्यय के सन्मुख भी देखना नहीं है। पर्यायों के प्रवाहक्रम में द्रव्य वर्त रहा है। किस पर्याय के समय सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है ?—जब देखो तब द्रव्य वर्तमान में परिपूर्ण है; ऐसे द्रव्य की सन्मुखता होने से प्रवाहक्रम निश्चित होता है। फिर उस प्रवाह का क्रम बदलने की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु ज्ञातापने का अभिप्राय रहता है। वहाँ वह प्रवाहक्रम ऐसे का ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है। उस द्रव्यदृष्टि में क्रमशः वीतरागी परिणामों का ही प्रवाह निकलता रहेगा। ऐसा इस ९९ वीं गाथा का सार है।

अहो! अपार वस्तु है; केवलज्ञान का कोठार भरा है। इसमें से जितना रहस्य निकालो, उतना निकल सकता है। भीतर दृष्टि करे तो पार आ सकता है।

अहो! आचार्य भगवान ने अमृत ने ढक्कन खोल दिये हैं—अमृत का प्रवाह बहा दिया है।

(1) सामान्य में से विशेष होता है—ऐसा कहो,

(2) वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है—ऐसा कहो, अथवा

(3) द्रव्य में से क्रमबद्धपर्याय की प्रवाहधारा बहती है, ऐसा कहो; इसका निर्णय करने में ध्रुवस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की रुचि में ही सम्यक्त्व और वीतरागता होती है। यह तो अन्तरंग रुचि की और अन्तर्दृष्टि की वस्तु है, मात्र शास्त्र की, पण्डिताई की यह वस्तु नहीं है।

यह वस्तु के समय-समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सूक्ष्म बात है। कुम्हार, घड़ा नहीं बनाता और कर्म, जीव को विकार नहीं कराते—यह तो ठीक, किन्तु यह तो उससे भी सूक्ष्म बात है। सर्वज्ञता में ज्ञाता हुआ वस्तुस्वभाव का एकदम सूक्ष्म नियम यहाँ बतला दिया है। मिट्टी स्वयं पिण्डदशा का नाश होकर घटपर्यायरूप उत्पन्न होती है और मिट्टीपने के प्रवाह की अपेक्षा वह ध्रौव्य है; उसी प्रकार समस्त पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाले हैं।—ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव समझने से अपने को पर-सन्मुख देखना नहीं रहता, क्योंकि पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को स्वयं नहीं करता और अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर से नहीं होते; इसलिए अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के लिए कहीं परसन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना ही रहता है। अब, स्वयं अपने परिणामों को देखते हुए ज्ञान अन्तर में परिणामी स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामी के आधार से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है। इस प्रकार ध्रुव के आश्रय से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है।—उसकी यह बात है।

'आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता।'—ऐसा कहते ही अन्य किसी के सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना आता है। अपने में अपने परिणाम अपने से होते हैं—ऐसा निश्चित करने पर, अन्तर में जहाँ से परिणाम की धारा बहती है—ऐसे ध्रुवद्रव्य-सन्मुख देखना रहा और ध्रुव-सन्मुख देखते ही (ध्रुवस्वभाव की दृष्टि होते ही) सम्यक्पर्याय का उत्पाद होता है। यदि ध्रुव-सन्मुख न देखे तो पर्यायदृष्टि में मिथ्यापर्याय का उत्पाद होता है। इसलिए वस्तु के ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को समझने से ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से सम्यक् वीतराग पर्यायों का उत्पाद हो—यही सर्व कथन का तात्पर्य है।

चैतन्यतत्त्व की महिमा और दुर्लभता

अहो! आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अत्यन्त महिमावाली बात जीवों ने यथार्थरूप से कभी नहीं सुनी। इस समय चैतन्यतत्त्व की महिमा की बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अति जिज्ञासु और अत्यन्त योग्य होकर आत्मस्वभाव की यह बात सुने, उसका कल्याण हो सकता है। *(—प्रवचन में से)*

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-1) [पूज्य श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2) [पूज्य श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-3, 4)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार [पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन]	छप रहा है।
जैन बालपोथी	0-4-0
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	0-10-0
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	0-12-0
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	2-10-0
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	0-12-0
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	1-2-0
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	6-2-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

[इस शास्त्रमाला की 54 पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)